मनोनुशासनम्

स्वर्गीय छोटूलाल सेठिया की स्मृति में उनकी धर्मपत्नी
श्रीमती मनीदेवी सेठिया के आर्थिक सौजन्य से

मूल्य ☐ छः रुपये
प्रथम संस्करण ☐ १९७०
प्रकाशक ☐ कमलेश चतुर्वेदी
प्रबन्धक आर्य साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)
मुद्रक ☐ श्याम प्रिंटिंग दिल्ली ३२

भूमिका

आत्मा का सिद्धान्त स्थिर हुआ तब उसके विकास की दृष्टि भी प्राप्त हुई। विकास के साधनो का अन्वेषण किया गया। एक शब्द मे उसे मोक्ष-मार्ग या योग कहा गया।

मोक्ष-मार्ग या योग कोई पारलौकिक ही नही है। वर्तमान जीवन मे भी जितनी शान्ति, जितना आनन्द और जितना चैतन्य स्फुरित होता है वह सब मोक्ष है। आचार्य उमास्वाति के अनुसार—"जिसने अहकार और वासनाओ पर विजय प्राप्त कर ली, मन, वाणी और शरीर के विकारो को धो डाला, जिनकी आशा निवृत्त हो चुकी, उन सुविहित आत्माओ के लिए यही मोक्ष है।"[1]

आत्मा की सहजता ही मोक्ष है। वह पूर्ण होती है तो मोक्ष पूर्ण होता है, वह अपूर्ण होती है तो मोक्ष अपूर्ण होता है। वर्तमान जीवन मे मोक्ष नही होता, वह अगले जीवन मे ही होता है—ऐसा नही होता।

इन्द्रिय और मन का वशीकरण ही मोक्ष मार्ग है। वह अनुशासन से प्राप्त होता है। बल-प्रयोग से वे वशवर्ती नही किए जा सकते। हठ से उन्हे नियत्रित करने का यत्न करने पर वे कुण्ठित बन जाते है। उनकी शक्ति विकसित तभी हो सकती है जब वे प्रशिक्षण के द्वारा अनुशासित

---

१. प्रशमरति २३०.

निर्जितमदमदनाना वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्ष सुविहितानाम्॥

स्वर्गीय छोटूलाल सेठिया की स्मृति में उनकी धर्मपत्नी
श्रीमती मणीदेवी सेठिया के आर्थिक सौजन्य से

मूल्य □ छह रुपये
प्रथम संस्करण □ १९७०
प्रकाशक □ कमलेश चतुर्वेदी
प्रबंधक, आदर्श साहित्य संघ
चूरू (राजस्थान)
मुद्रक □ रूपाभ प्रिंटर्स, दिल्ली ३२

भूमिका

आत्मा का सिद्धान्त स्थिर हुआ तब उसके विकास की दृष्टि भी प्राप्त हुई। विकास के साधनो का अन्वेषण किया गया। एक शब्द मे उसे मोक्ष-मार्ग या योग कहा गया।

मोक्ष-मार्ग या योग कोई पारलौकिक ही नही है। वर्तमान जीवन मे भी जितनी शान्ति, जितना आनन्द और जितना चैतन्य स्फुरित होता है वह सब मोक्ष है। आचार्य उमास्वाति के अनुसार—"जिसने अहकार और वासनाओ पर विजय प्राप्त कर ली, मन, वाणी और शरीर के विकारो को धो डाला, जिनकी आशा निवृत्त हो चुकी, उन सुविहित आत्माओ के लिए यही मोक्ष है।"[1]

आत्मा की सहजता ही मोक्ष है। वह पूर्ण होती है तो मोक्ष पूर्ण होता है, वह अपूर्ण होती है तो मोक्ष अपूर्ण होता है। वर्तमान जीवन मे मोक्ष नही होता, वह अगले जीवन मे ही होता है—ऐसा नही होता।

इन्द्रिय और मन का वशीकरण ही मोक्ष मार्ग है। वह अनुशासन से प्राप्त होता है। बल-प्रयोग से वे वशवर्ती नही किए जा सकते। हठ से उन्हे नियन्त्रित करने का यत्न करने पर वे कुण्ठित बन जाते है। उनकी शक्ति विकसित तभी हो सकती है जब वे प्रशिक्षण के द्वारा अनुशासित

---

१. प्रशमरति २३०

निर्जितमदमदनाना वाक्कायमनोविकाररहितानाम्।
विनिवृत्तपराशानामिहैव मोक्ष सुविहितानाम्॥

किए जाए।

स्वाध्याय और ध्यान उनके प्रशिक्षण के प्रमुख साधन है। स्वाध्याय इस युग का प्रधान तत्त्व है और ध्यान विलुप्त तत्त्व। स्वाध्याय भी जितना बुद्धि को विकसित करने का है उतना मन को अनुशासित करने का नहीं है।

अणु-अस्त्रो के इस युग मे मानसिक सतुलन बहुत ही अपेक्षित है। आज कुछेक व्यक्तियो का थोडा-सा मानसिक असतुलन बहुत बडे अनिष्ट का निमित्त बन सकता है।

मानसिक सतुलन के अभाव मे व्यक्ति का जीवन दूभर बन जाता है। सब सयोगो म भी एक विचित्र खालीपन की अनुभूति होती है। अनेक व्यक्ति पूछते है—शान्ति कैसे मिले ? मन स्थिर कसे हो ? मैं उन्हे यथोचित समाधान देता। ये प्रश्न कुछेक व्यक्तियो के ही नही हैं। ये व्यापक प्रश्न है। इसलिए इनका समाधान भी व्यापक स्तर पर होना चाहिए। मनोनुशासनम के निर्माण का यही प्रयोजन है। प्राचीन भाषा म जो योग है उसकी एक रेखा आज की भाषा मे मनोविज्ञान है। मानसिक विकास दोनो म अपेक्षित है। मन को केन्द्रित किए बिना उसका विकास नही हो सकता। योगशास्त्र मानसिक विकास को अतीन्द्रिय ज्ञान की भूमिका तक ले जाते है। बुद्धि और मन से परे जो चेतना है वही वस्तुत अध्यात्म है। वहा पहुचने पर ही व्यक्ति को सहजानन्द की अनुभूति होती है। वह स्थिति मानसिक विकास के बाद ही प्राप्त होती है।

मन को अनुशासित करना जितना एक जैन के लिए उपयोगी है उतना ही एक अजैन के लिए भी उपयोगी है। वह मनुष्य मात्र के लिए उपयोगी है। वह अणुव्रत-आन्दोलन की भाँति सबके लिए है। अध्यात्म अमुक अमुक के लिए नही किन्तु प्रत्येक आत्मा के लिए है।

मनुष्य मे अनन्त शक्ति अनन्त आनन्द और अनन्त चैतन्य होता है। किन्तु मन को अनुशासित करने का मार्ग नही जानता इसलिए वह अपने आपको कभी निबल कभी दुखी और कभी अज्ञानी अनुभव करता है।

इसी अवस्था को मैं धनवान् की गरीबी कहता हूं।

आज का युग नवजागरण का युग है। सबका जागरण हो रहा है, तब मन भी जागृत होना चाहिए। सब जाग जाए और मन सो जाए— यह वांछनीय नहीं है। वांछनीय यह है कि जागरण से पूर्व मन जग जाए।

सहज अनुशासित मन ही जागृत मन है। आज के मानव को उसकी प्रक्रिया की अपेक्षा है। उसी प्रक्रिया का दिग्दर्शन 'मनोनुशासनम्' में कराया गया है। इसकी भाषा मैंने संस्कृत इसलिए रखी कि संस्कृत में थोड़े में जितना अधिक कहा जा सकता है उतना दूसरी भाषा में कहना कठिन है। इसकी सूत्रबद्ध शैली के पीछे भी यही संक्षेपीकरण का दृष्टि-कोण रहा है।

मुनि नथमलजी ने इसकी विस्तृत व्याख्या लिखकर तथा इसे अपनी अनुभूति से आप्लावित कर बाल, युवा और वृद्ध—सब लोगों के लिए अधिक उपयोगी बना दिया है। बृहद् व्याख्या के विना केवल सूत्र इतने जनोपयोगी नहीं हो सकते थे। मेरी प्रेरणा को उन्होंने मूर्त रूप दिया है। योग में उनकी सहज गति है। ज्ञान के अभ्यासी होने के कारण उनकी भाषा में वेधकता है। दर्शन के अभ्यासी होने के कारण दार्शनिक तत्त्वों को भी उन्होंने सहजगम्य बनाने का प्रयत्न किया है। व्याख्या सहित 'मनोनुशासनम्' योग में रुचि रखने वाले लोगों के हाथों में प्रस्तुत है। हमारे धर्म-संघ में तो इसका अधिक उपयोग होगा ही पर प्रत्येक जिज्ञासु मनुष्य इससे लाभान्वित होगा।

— आचार्य तुलसी

अणुव्रतनगर
मोतीबाग
रायपुर (म० प्र०)
२१ जुलाई, १९७०

आमुख

प्रत्येक धर्म का अपना स्वतंत्र साध्य होता है और उसकी सिद्धि के लिए उसी के अनुकूल साधना-पद्धति होती है। महर्षि पतंजलि ने साख्यदर्शन की साधना-पद्धति को व्यवस्थित रूप दिया और योग नाम से एक स्वतंत्र साधना-पद्धति विकसित हो गई। अब हर साधना-पद्धति योग नाम से अभिहित होती है। योग स्वयंसिद्ध नाम है। दूसरे धर्मों की साधना-पद्धति को जैन योग, बौद्ध योग—इस प्रकार पहचान की जाती है। किन्तु जैनो और बौद्धो की साधना-पद्धति की स्वतंत्र सज्ञा है। जैनो की साधना-पद्धति को मोक्षमार्ग और बौद्धो की साधना-पद्धति को विशुद्धिमार्ग कहा जाता है।

उपनिषद्-साहित्य मे षडङ्ग योग का उल्लेख मिलता है[1]—प्राणायाम, प्रत्याहार, ध्यान, धारणा, तर्क और समाधि।

पातजल योगदर्शन मे अष्टाङ्ग योग का उल्लेख है[2]—यम, नियम,

---

१ मैत्रायणी उपनिषद् ६।१८

प्राणायाम प्रत्याहारो ध्यान धारणा तर्क समाधि : षडङ्ग इत्युच्यते योगः।

२ पातजल योग-दर्शन २।२९

यमनियमासनप्राणायामप्रत्याहारधारणाध्यानसमाधयोऽष्टावङ्गानि।

आसन प्राणायाम प्रत्याहार धारणा ध्यान और समाधि।

बौद्ध साधना-पद्धति मे आर्य अष्टाङ्गिक मार्ग का उल्लेख है[1]—सम्यग्दृष्टि सम्यकसंकल्प सम्यग्वाणी सम्यककर्म सम्यगाजीविका, सम्यग्व्यायाम सम्यकस्मृति और सम्यकसमाधि।

मोक्षमार्ग चतुरंग है[2]—ज्ञान दर्शन चरित्र और तप।

ज्ञान से सत्य ज्ञात होता है। दर्शन से वह स्थिर होता है। चरित्र से असत्य का सम्पर्क विच्छिन्न होता है और तप से असत्य के संचित संस्कार क्षीण होते है। चारो के समवाय से आत्मा असत्य से विच्छिन्न होकर अपने सत्य स्वरूप म प्रतिष्ठित हो जाती है।

साधना की समग्र पद्धति जिस मन्दिर की परिक्रमा करती है उसका देवता है मन। उसकी सिद्धि सबकी सिद्धि और उसकी असिद्धि सबकी असिद्धि होती है

केशी स्वामी ने गौतम से पूछा—तुम शत्रुओं पर विजय कैसे प्राप्त करते हो?

गौतम ने कहा—भंते! मैं एक पर विजय प्राप्त करता हू। उससे चार स्वय विजित हो जाते हैं। उनके विजित होने पर पाच और विजित हो जाते है। इस प्रकार दस पर विजय प्राप्त कर लेता हू। इसका अर्थ यह होता है कि मैं सब शत्रुओ पर विजय पा लेता हूँ।

केशी ने फिर पूछा—तुम शत्रु किसे समझते हो?

गौतम ने कहा—आत्मा कषाय—क्रोध मान माया और लोभ—और पचेन्द्रिय ये दस शत्रु हैं। मैं इन पर विजय प्राप्त कर सुख से विचरता हूँ।

यहा आत्मा का अर्थ मन है। इसे जीते बिना कषाय और इन्द्रिय पर विजय प्राप्त नही हो सकती। इसीलिए 'मनोनुशासनम्' को अपने आप म

---

१ संयुक्तनिकाय ५।१०

२ उत्तराध्ययन २८।२

सार्थकता है।

मन को अनुशासित करने के लिए शरीर, श्वास आदि को अनुशासित करना भी आवश्यक होता है। प्रस्तुत ग्रन्थ मे मन तथा उसके लिए अन्य जितने भी अनुशासनीय है, उन सबके अनुशासन की प्रक्रिया निरूपित की गई है।

आचार्यश्री तुलसी महान् प्रेरणा-स्रोत है। वे स्वय प्रकाशित और पर-प्रकाशी है। उन्होने समय-समय पर ज्योति विकीर्ण की है।

तत्त्वज्ञान की अपेक्षा थी तब आचार्यवर ने 'जैन सिद्धान्त दीपिका' की रचना की। वह तत्त्वजिज्ञासु व्यक्तियो के लिए बहुत ही प्रेरक बनी।

दृष्टि-परिष्कार के लिए आचार्यवर ने 'भिक्षुन्यायकर्णिका' की रचना की। न्यायशास्त्र के विद्यार्थियो के लिए वह बहुत ही लाभप्रद हुई।

व्यवहार-परिष्कार के लिए आचार्यश्री ने 'पचसूत्रम्' का प्रणयन किया है। वैचारिक परिपक्वता और अनुशासित जीवन-पद्धति की उपलब्धि के लिए उसका अपना विशिष्ट मूल्य है।

आज सर्वाधिक अपेक्षा मन को अनुशासित करने की है। उसकी पूर्ति के लिए आचार्यश्री ने 'मनोनुशासनम्' का प्रणयन किया है। यह आकार मे लघु है पर प्रकार मे गुरु। इसमे योगशास्त्र की सर्वसाधारण द्वारा अग्राह्य सूक्ष्मताए नही है। किन्तु जो है, वह अनुभवयोग्य और बहुजन-साध्य है। इस मानसिक शिथिलता के युग मे मन को प्रबल बनाने की साधन-सामग्री प्रस्तुत कर आचार्यश्री ने मानव-जाति को बहुत ही उपकृत किया है। हमारी आशसा है कि युग-युग तक हमे इस महान् ज्योति से ज्योति की रेखाए प्राप्त हो।

'मनोनुशासनम्' का सक्षिप्त अनुवाद आचार्यवर के धवल समारोह के पुण्य पर्व (वि० स० २०१८) पर प्रकाशित हो चुका था किन्तु उससे पाठक की दृष्टि स्पष्ट नही हो रही थी। अनेक लोगो की यह भावना थी कि इसे कुछ विस्तार से लिखा जाए। इस अपेक्षा को मैं स्वय भी अनुभव करता था। आचार्यश्री भी इस ओर इगित कर चुके थे

किन्तु प्राप्त कार्यों की पूर्णता न होने तक यह काम निष्पन्न नहीं हो सका। आचार्यश्री ने इस कार्य के लिए समय की विशेष व्यवस्था की और यह काम सम्पन्न हो गया।

इस कार्य में मुनि गुलाबचन्द्र 'निर्मोही' मेरे सहयोगी रहे हैं। मैं लिखाता गया और वे लिखते गए। मैं बोला हूं इतना काम मेरा है शेष सब काम उन्होंने किया है। यदि ऐसा नहीं होता तो अन्य कार्यों की व्यस्तता में इसका निर्माण सम्भव नहीं था।

साध्वी कनकप्रभा से इसका शब्दानुवाद लिखवाया था किन्तु उसका उस रूप में प्रयोग नहीं किया। फिर भी उन्होंने जो श्रम किया वह मेरे लिए मूल्यार्ह है।

आचार्यश्री का अपना ग्रन्थ अपनी ही आलोक रेखा से आलोकित हो यह उनके और मेरे—दोनों के लिए आनन्द का प्रसंग है।

—मुनि नथमल

अणुव्रतनगर
मोतीबाग
रायपुर (म० प्र०)
२१ जुलाई १९७०

विषयानुक्रम

पहला प्रकरण

तीसरा प्रकरण

चौथा प्रकरण

पांचवां प्रकरण

छठा प्रकरण

सातवां प्रकरण

परिशिष्ट—१

परिशिष्ट—२

परिशिष्ट—३

परिशिष्ट—४

आसनों की चित्र

१ समपाद
२ एकपाद
३ गृध्रोड्डीन
४ कायोत्सर्ग (खड़ी मुद्रा में—पहर
५ कायोत्सर्ग (खड़ी मुद्रा में—दूसर
६ कायोत्सर्ग (खड़ी मुद्रा में)
७ गोदोहिका
८ उत्कटकासन
९ समपादपुता
१० हस्तिशुण्डिका (पहला प्रकार)
११ हस्तिशुण्डिका (दूसरा प्रकार)
१२ पद्मासन
१३ बद्धपद्मासन
१४ योगमुद्रा (पहला प्रकार)
१५ योगमुद्रा (दूसरा प्रकार)
१६ सोड्डीयान पद्मासन
१७ अर्धपद्मासन
१८ ऊर्ध्वपद्मासन (पहला प्रकार)
१९ ऊर्ध्वपद्मासन (दूसरा प्रकार)

पहला प्रकरण

१ अथ मनोनुशासनम् ॥

१. इस ग्रन्थ मे मन को अनुशासित करने की पद्धति बतलाई गई है अतः इसका नाम मनोनुशासनम् है।

ध्येयनिष्ठा

जीवन का सर्वोच्च ध्येय है—मुक्ति। बन्धन किसी भी व्यक्ति को प्रिय नही है। जिसमे चेतना का किंचित् भी विकास है, उसमे मुमुक्षा है और वह इतनी अपरिहार्य है कि उसे मिटाया नही जा सकता। इसीलिए यह कहना सर्वथा सगत है कि मुक्ति जीवन का सर्वोच्च ध्येय है। जिसके ध्येय और प्रवृत्ति मे विसगति होती है वह ध्येय के निकट नही पहुच पाता। जैसे-जैसे ध्येय और प्रवृत्ति की विसगति मिटती जाती है, वैसे-वैसे ध्येय सधता जाता है।

एक व्यक्ति का ध्येय है मुक्ति और वह खाता है शरीर की पुष्टि के लिए, सुनता है कान की तृप्ति के लिए और देखता है आंख की तृप्ति के लिए। यह ध्येय की विसगति है। जब हमारा ध्येय अनेक रूपो मे बट जाता है, तब हम मूल को नही सीच पाते। शाखाओ, पत्तो और फूलो को सीचने का अर्थ होता है उनका सूख जाना। मूल सीचा जाता है तो शाखाए, पत्र और पुष्प अपने आप अभिषिक्त हो जाते है। यह ध्येय की सगति है। मूल को छोडकर शेष अवयवो को सीचना ध्येय की विसगति

है। खाना शरीर निर्वाह के लिए आवश्यक है। सुनना और देखना इन्द्रियों की अनिवार्यता है। कान के पर्दे और आंख के गोलक को फोड़ा नहीं जा सकता। कोई भी आदमी निरन्तर कान में रुई और आंख पर पट्टी बांधकर बैठ नहीं सकता। जिसे आंख प्राप्त है, वह देखता है और जिसे कान प्राप्त है वह सुनता है। देखना और सुनना अपने आपमें अच्छा भी नहीं है और बुरा भी नहीं है। उसमें अच्छाई और बुराई ध्येय के आधार पर फलित होती है। हम मुक्ति के लिए देखें, मुक्ति के लिए सुनें, मुक्ति के लिए खाएं और मुक्ति के लिए जिएं तो हमारा जीना भी साधना है, खाना भी साधना है, देखना और सुनना भी साधना है।

आचार्य हरिभद्र ने इसी तथ्य की अभिव्यक्ति इन शब्दों में की है—'मोक्खेण जोयणाओ जोगो सव्वो वि धम्मवावारो'—वह सारा धार्मिक व्यापार योग है जो व्यक्ति को मुक्ति से जोड़ता है। योग वही है जो मुक्ति के लिए है और मुक्ति से जुड़ा हुआ है। बन्धन के लिए या बन्धन से जोड़ने वाली कोई भी प्रवृत्ति न धार्मिक हो सकती है और न यौगिक।

भगवान महावीर ने कहा है—संयम से चलो, संयम से खड़े रहो, संयम से बैठो, संयम से सोओ, संयम से खाओ और संयम से बोलो, फिर पाप कर्म का बन्धन नहीं होता। बन्धन वहीं है जहां संयम नहीं है और मुक्ति का ध्येय निष्ठित हुए बिना जीवन में संयम आता नहीं। मुक्ति हमारे जीवन का ध्येय है और संयम ध्येय-पूर्ति की साधना है। इन दोनों में सामंजस्य है। मुक्ति और असंयम में सामंजस्य नहीं है। हमारा ध्येय मुक्ति हो और हमारी जीवनगत प्रवृत्तियों में संयम न हो, वह ध्येय और ध्येय-पूर्ति की विसंगति है। जीवन में संयम लाने का प्रयत्न हो और मुक्ति का ध्येय निष्ठित न हो, वह भी विसंगति है। विसंगति की दशा में जिसकी निष्पत्ति हम चाहते हैं, वह निष्पन्न नहीं होता। इसकी निष्पत्ति ध्येय और साधना के सामंजस्य से ही हो सकती है।

कोई व्यक्ति मुमुक्षु है तो उसमें संयम होना स्वाभाविक है। मुमुक्षा

उसकी प्रवृत्तियों का सहज भाव से नियमन करती है। मुमुक्षु व्यक्ति खाएगा किन्तु खाने मे आसक्त नही होगा। वह देखेगा और सुनेगा किन्तु देखने और सुनने मे उसकी आसक्ति नही होगी। आसक्ति और अनासक्ति के बीच भेदरेखा ध्येय के द्वारा ही खीची जाती है। जिसमे मुमुक्षा है, उसकी प्रवृत्ति इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नही हो सकती किन्तु प्राप्त आवश्यकता की पूर्ति के लिए होती है। जहा प्रवृत्ति ध्येय की पूर्ति के लिए की जाती है, वहा धूप से बचाने वाली छत बन जाती है और जहा ध्येय को भुलाकर प्रवृत्ति की जाती है, वहा वह मोतिया बन जाती है। छत का हमारे लिए उपयोग है इसलिए हम उसे पसन्द कर सकते है किन्तु मोतिया हमारी ज्योति को आवृत्त करता है इसलिए उसे पसन्द नही किया जा सकता। हमारी ध्येयनिष्ठा दुर्बल होती है, उस स्थिति मे प्रवृत्ति मोह और आवरण बन जाती है और हमारी ध्येयनिष्ठा प्रबल होती है तब प्रवृत्ति हमारा बचाव करने लग जाती है। इस सारी परिस्थिति मे जो सत्य उभरता है वह है ध्येयनिष्ठा। जिसकी ध्येयनिष्ठा जितनी प्रबल होगी, वह उतना ही जीवन की विसगतियो से बच पाएगा। ध्येयनिष्ठा के अभाव मे जीवन की विसगतियो को मिटाने की बात हम सोच सकते है किन्तु उन्हे मिटा नही पाते।

२. इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं सज्ञान मनः ॥

३. स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि   इन्द्रियाणि ॥

२ मन सज्ञान का एक स्तर है। उसकी व्याख्या तीन विशेषणो से की जाती है .

(क) वह इन्द्रियों के द्वारा गृहीत विषयो मे प्रवृत्त होता है, इसलिए इन्द्रिय-सापेक्ष है।

(ख) वह शब्द, रूप आदि सब विषयो को जानता है, इसलिए सर्वार्थग्राही है।

(ग) वह भूत, भविष्य और वर्तमान तीनों का सकलनात्मक ज्ञान करता है, इसलिए त्रैकालिक है।

३ इन्द्रिया पाच है

१ स्पर्शन
२ रसन
३ घ्राण
४ चक्षु
५ श्रोत्र

इन्द्रिय और मन

चैतन्य की दो भूमिकाए है—विकसित और अविकसित। विकास का सर्वाधिक निम्नस्तर एकेन्द्रिय म होता है—उसके केवल एक स्पर्शन इन्द्रिय का विकास होता है। द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय आदि जीवो के चतन्य का क्रमिक विकास होता है। द्वीन्द्रिय को दो इन्द्रिय स्पर्श और रसन का ज्ञान प्राप्त होता है। त्रीन्द्रिय के घ्राण चतुरिन्द्रिय के चक्षु और पचेन्द्रिय के श्रोत्र विकसित हो जाते हैं। चैतन्य का दूसरा स्तर है—मानसिक विकास। वह केवल पचेन्द्रिय जीवो को ही प्राप्त होता है।

मनुष्य पचेन्द्रिय है और मानसिक विकास भी उसे प्राप्त है। यद्यपि इन्द्रिय और मन दोनों चतन्य के विकास है फिर भी दोनों की विकास मात्रा म बहुत तारतम्य है। इन्द्रिया केवल वतमान को ही जानती हैं। मन भूत भविष्य और वतमान तीनों को जानता है। इन्द्रियो मे आलोच नात्मक ज्ञान की शक्ति नही है। मन मे आलोचना की क्षमता है। वह इन्द्रियो द्वारा गृहीत विषयो का ज्ञान करता है और स्वतत्र चिंतन भी।

सज्ञान दो प्रकार के होते है—तात्कालिक और त्रैकालिक। तात्का लिक सज्ञान चीटी जैसे क्षुद्र प्राणियों मे भी होता है। वे इष्ट की प्राप्ति के लिए प्रवृत्त और अनिष्ट से बचने के लिए निवृत्त होते हैं किन्तु वे भूत और भविष्य का सकलनात्मक सज्ञान नही कर सकते। उनमे स्मृति और कल्पना का विकास नही होता। त्रैकालिक सज्ञान मे स्मृति और कल्पना का विकास होता है तथा उसमें भूत और भविष्य के सकलन की क्षमता

होती है। इसीलिए मन को दीर्घकालिक संज्ञान भी कहा जाता है।

प्रश्न : क्या मन ज्ञानात्मक है ?

उत्तर मन चैतन्य के विकास का एक स्तर है, इसलिए वह ज्ञानात्मक है, किन्तु उसका कार्य स्नायुमण्डल, मस्तिष्क और चिंतन-योग्य पुद्गलो की सहायता से होता है, इसलिए वह पौद्गलिक भी है। हमारी शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार की क्रियाए स्नायुमण्डल के द्वारा सचालित व नियत्रित होती है। मस्तिष्क के दो भाग है

१. बृहन्मस्तिष्क

२ लघु मस्तिष्क

ज्ञानवाही स्नायु बृहन्मस्तिष्क तक अपना सन्देश पहुचाते है और उसके ज्ञान प्रकोष्ठ क्रियाशील हो जाते है, मन का मुख्य केन्द्र यह बृहन्मस्तिष्क है।

कुछ आचार्य मन का स्थान हृदय को मानते है और कुछ आचार्य उसे समूचे शरीर मे व्याप्त मानते है। उसका कोई निश्चित स्थान नही मानते। उनका मत है कि जहा श्वास है, वहा मन है और जहा मन है वहा श्वास है। ये दोनो दूध और पानी की भाति परस्पर मिले हुए है

मनो यत्र मरुत् तत्र, मरुद् यत्र मनस्तत्र ।
अतस्तुल्यक्रियावेतौ, सवीतौ क्षीरनीरवत् ॥

योगशास्त्र ५/२

मन समूचे शरीर मे व्याप्त है। इसका अर्थ यह नही होना चाहिए कि मानसिक क्रिया के प्रयोजक केन्द्र सारे शरीर मे है। सवेदनावाही और ज्ञानवाही स्नायु समूचे शरीर मे है। वे मस्तिष्क से सम्बद्ध है, इसलिए मानसिक व्यापार समूचे शरीर मे सम्प्रेषित होता है, किन्तु उसका केन्द्रस्थान समूचा शरीर नही है।

प्रश्न क्या मस्तिष्क की क्रिया ही मन नही है ?

उत्तर मस्तिष्क की क्रिया मन का एक भाग है किन्तु केवल वही मन नही है।

प्रश्न क्या मस्तिष्क के बिना मानसिक क्रिया होती है ?

उत्तर आख के गोले के बिना कोई देख नही सकता फिर भी उस गोलक की क्रिया को ही देखने की क्रिया नही कहा जा सकता। वस ही मस्तिष्क के बिना मनन की क्रिया नही होती, फिर भी मस्तिष्क ही मन नही है। आख का गोला देखने मे सहयोग करता है वसे ही मस्तिष्क मनन मे सहायक है। चैतन्य का विकास और मस्तिष्क रचना दोनों के समुचित योग से ही मानसिक क्रिया निष्पन्न होती है।

साधना के लिए इन्द्रियो और मन की क्रिया और प्रक्रिया का ज्ञान आवश्यक है। बाह्य जगत् के साथ हमारा सम्पर्क इन्द्रियो और मन के माध्यम से होता है। दृश्य जगत् को हम आखों से देखते हैं, श्रव्य जगत् को हम कानों से सुनते है गन्धवान जगत् को हम सूघते है रसनीय जगत् का हम रस लेते हैं और स्पृश्य जगत् का हम स्पश करते हैं। रूप शब्द गन्ध रस और स्पश का अस्तित्व इन्द्रियो के लिए नही है फिर भी उनमे ग्राह्य ग्राहक भाव है। इसलिए इन्द्रिया ग्राहक हैं और विषय उनके द्वारा गृहीत होते हैं। इन्द्रिय और विषय मे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध है। यह साधना का विषय नही है किन्तु एक मनुष्य दृश्य को देखता है और उसके प्रति उसके मन मे राग या द्वेष की ऊर्मि उठती है यह स्थिति साधना की परिधि मे आती है। इन्द्रियो का प्रयोग करना और उसमे राग या द्वेष की ऊर्मियो को उठने न देना इसी का नाम है—साधना। यह तभी सम्भव हो सकता है जब मनुष्य को शुद्ध चैतन्य की भूमिका का अनुभव प्राप्त हो।

जानने और राग या द्वेष की ऊर्मि उत्पन्न होने मे निश्चित सम्बन्ध नही है। किन्तु जहा साधना नही होती चैतन्य की केवल चैतन्य के रूप म अनुभूति या स्वीकृति नही होती वहा ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध अनुरागी और प्रेम या द्वेष्टा और द्वेष्य के रूप मे बदल जाता है। ज्ञान के उत्तरकाल म होने वाले राग या द्वेष को निर्वीर्य करना ही साधना का उद्देश्य है।

क्या यह सभव है कोई व्यक्ति सुस्वादु पदार्थ खाए और उसके मन मे राग उत्पन्न न हो ? क्या यह सभव है, कोई आदमी बासी अन्न खाए और उसके मन मे ग्लानि या द्वेष उत्पन्न न हो ? साधरण आदमी के लिए यह सभव नही है। यह असभव नही है किन्तु सभव उसी के लिए है जिसने ऐसी स्थिति के निर्माण के लिए प्रयत्न किया है।

जिस व्यक्ति के मन मे इन्द्रिय-विषयो के प्रति आकर्षण है, वह उन्हे प्राप्त कर राग या द्वेष से मुक्त नही रह सकता। जिसके आकर्षण का प्रवाह बदल जाता है, विषयो के प्रति उसका आकर्षण समाप्त हो जाता है। यह वह स्थिति है जिसके लिए मनुष्य साधना के पथ पर चलता है।

इन्द्रियो के साथ वृत्तियो का सम्बन्ध नही होता तब तक इन्द्रिय और विषय मे ज्ञाता और ज्ञेय का सम्बन्ध होता है। पानी अपने आपमे स्वच्छ है। उसमे गन्दगी आ मिलती है तब वह मैला हो जाता है। इन्द्रिय और मन भी अपने आप मे स्वच्छ हैं। उनमे वृत्तियो की गन्दगी आ जाती है तब वे मलिन बन जाते है। हम तब तक इन्द्रिय और मन की गन्दगी का शोधन या समापन नही कर सकते जब तक वृत्तियो का शोधन या समापन नही कर लेते।

हमारी इन्द्रिया चचल क्यो है ? मन चचल है इसलिए इन्द्रिया चचल है। प्रश्न होगा—मन चचल क्यो है ? हमारी वृत्तिया चचल है इसलिए मन चचल है। चचलता की हेतु इन्द्रिया और मन नही है। वे तो चचलता का भोग करती है। चचलता के मूल हेतु वृत्तिया है। इसलिए जो व्यक्ति इन्द्रिय और मन की निर्मलता और उनकी चचलता के समापन का इच्छुक है उसके लिए यह प्राप्त होता है कि वह वृत्तियो के सशोधन का प्रयत्न करे।

वृत्तिया क्या है और उनके सशोधन की प्रक्रिया क्या है ? मनुष्य के जीवन-परिचालन मे जिसका सक्रिय योग होता है, उसे वृत्ति कहा जाता है। वर्तमान की क्रिया अतीत मे वृत्ति का रूप ले लेती है। मनुष्य मे :

१ बुभुक्षा—खाने की इच्छा होती है।

२ शरीर-धारण की इच्छा होती है।

३ ऐन्द्रियिक आसक्ति होती है।

४ श्वास लेने का संस्कार होता है।

५ बोलने की इच्छा होती है।

६ चिंतन का संस्कार होता है।

ये जीवन धारण की मौलिक वृत्तियां हैं। वृत्ति के पोषक तत्त्व दो हैं राग और द्वेष। रागात्मक भावना के द्वारा मनुष्य प्रियता या अनुकूलता की अनुभूति करता है और द्वेषात्मक भावना के द्वारा मनुष्य अप्रियता या प्रतिकूलता की अनुभूति करता है। रागात्मक भाव माया और लोभ के रूप में प्रगट होता है। द्वेषात्मक भाव क्रोध और अभिमान के रूप में प्रगट होता है। ये वृत्तियों को अपने रंग में रंग देते हैं इसलिए इन्हें कषाय कहा गया है। इन भावों को पुष्टि देने वाले कुछ सहायक भाव हैं। जैसे हास्य, रति-अरति, भय, शोक घृणा काम-वासना।

इन कषायिक भावों के द्वारा मनुष्य में अज्ञान संशय विपर्यय मोह, आवरण आदि घटित होते हैं। महर्षि पतंजलि ने प्रमाण, विपर्यय विकल्प, निद्रा और स्मृति को वृत्ति माना है।

वृत्तियों का शोधन तपोयोग से होता है। पानी हवा और धूप के अभाव में अङ्कुरित बीज भी मुरझा जाता है। इसी प्रकार पोषक सामग्री के अभाव में अर्जित संस्कार निर्बीज बन जाते हैं। गन्दा जल शोधन द्रव्यों के प्रयोग से स्वच्छ हो जाता है। इसी प्रकार तपोयोग के द्वारा वृत्तियों के दोष विलीन हो जाते हैं। इस शोधन की प्रक्रिया पर अग्रिम पृष्ठों में प्रकाश डाला जाएगा।

४ आत्ममात्रापेक्षम् अतीन्द्रियम् ॥

५ चेतनावद् द्रव्यम् आत्मा ॥

६ ज्ञानदर्शन-सहजानन्द-सत्य-वीर्याणि तत्स्वरूपम् ॥

७ परमाणुसमुदयस्तदावरणविकरणे ॥

८ तत्संसर्गाऽसंसर्गाभ्यामात्मा द्विविधः ॥

९. बद्धो मुक्तश्च ॥

१०. स्वरूपोपलब्धिर्मुक्तिः ॥

४ पौद्गलिक साधनों की अपेक्षा रखे बिना केवल आत्मा के द्वारा जो प्रत्यक्ष ज्ञान होता है, उसे अतीन्द्रिय कहा जाता है।

५ जो द्रव्य चेतनावान् होता है, उसे आत्मा कहा जाता है।

६. ज्ञान-दर्शन, सहज-आनन्द, सत्य (पूर्ण वीतरागता) और वीर्य—यह आत्मा का शुद्ध स्वरूप है।

७. परमाणु स्कन्धों के द्वारा आत्मा का स्वरूप आवृत और विकृत होता है।

८ स्वभाव की दृष्टि से सब आत्माएं समान होती है, फिर भी परमाणु-समुदयों के योग और वियोग के कारण वे दो प्रकार की होती है।

९ परमाणु-समुदयों के योग से युक्त आत्मा बद्ध और उसके योग से वियुक्त आत्मा मुक्त कहलाती है।

१० स्वरूप की उपलब्धि होती है, आवृत-स्वरूप अनावृत होता है, वही मुक्ति है।

अतीन्द्रिय ज्ञान और आत्मा

चेतना के तीन स्तर है : ऐन्द्रियिक, मानसिक और अतीन्द्रिय। चेतना का आवरण सघन होता है तब उसके ऐन्द्रियिक स्तर का विकास होता है। उसका आवरण पतला हो जाता है तब मानसिक स्तर का विकास होता है। जब वह बहुत क्षीण या पूर्णतः विलीन हो जाता है तब अतीन्द्रिय स्तर का विकास होता है। हम लोग इन्द्रिय और मन के स्तर पर ज्ञान कर रहे है इसलिए अतीन्द्रिय ज्ञान की कल्पना नहीं कर पाते। इन्द्रिय स्तर पर काम करने वाला क्या मानसिक स्तर की कल्पना कर सकता है? हम उत्तरवर्ती विकास की कल्पना नहीं कर सकते, उसका हेतु हमारी अपूर्णता है। हम अपनी पूर्णता का अनुभव कर अतीन्द्रिय स्तर की

परिकल्पना से [illegible] नही रह सकते।

चेतना के पहले दो स्तर परोक्ष होते हैं। उसका तीसरा स्तर प्रत्यक्ष होता है। ज्ञान वस्तुत परोक्ष नही होता किन्तु उसकी पद्धति परोक्ष भी बन जाती है। ऐंद्रियिक स्तर पर हम ज्ञेय को इन्द्रियों के माध्यम से जानते हैं साक्षात् नही जानते इसलिए हमारा वह ज्ञान परोक्ष होता है। कल्पना चिंतन और मनन म कल्पनीय, चिन्तनीय और मननीय वस्तु का साक्षात् सम्पर्क नही होता इसलिए मानसिक स्तर का ज्ञान भी परोक्ष होता है। प्रत्यक्ष ज्ञान वह होता है जहा ज्ञाता ज्ञेय को साक्षात् जानता है—शारीरिक या पौद्गलिक उपकरणो की सहायता लिए बिना जानता है।

साधना का उद्देश्य है—परोक्षानुभूति की भूमिका को पार कर प्रत्यक्षानुभूति की भूमिका म प्रवेश करना चेतना [illegible] आवरण को विलीन कर उसे अनावृत करना। चेतना का अनावरण होने पर हमारी साधना समाप्त हो जाती है।

परोक्ष और प्रत्यक्ष ज्ञान की भेदरेखा तीन बिन्दुओं से बनी है। परोक्ष ज्ञान का विषय है स्थूल अव्यवहित और निकटवर्ती वस्तु। प्रत्यक्ष का विषय है स्थूल या सूक्ष्म व्यवहित या अव्यवहित [illegible] या निकटवर्ती वस्तु। परोक्ष ज्ञान मनन और शास्त्र (शब्द ज्ञान) के माध्यम से होता है। प्रत्यक्ष-ज्ञान के तीन प्रकार है अवधिज्ञान मन पर्यायज्ञान और केवलज्ञान। चेतना की पूर्ण अनावृत दशा का नाम केवलज्ञान है। उसके द्वारा भौतिक और अभौतिक मूर्त और अमूर्त सभी प्रकार के ज्ञेय जाने जाते है। अवधि और मन पर्याय के द्वारा केवल भौतिक और मूर्त द्रव्य ही जाने जा सकते हैं। अवधिज्ञान से हम भीत से परे की वस्तु जान सकते है किन्तु अभौतिक ज्ञेय को नही जान सकते। मन पर्यायज्ञान के द्वारा हम चिंतन मे प्रयुक्त पौद्गलिक तत्त्वों को जान सकते हैं किन्तु चेतना की अभौतिक सत्ता को नही जान सकते।

साधना के द्वारा हम स्थूल जगत् से सम्बन्ध विच्छिन्न कर सूक्ष्म जगत् से सम्पर्क स्थापित कर सकते हैं। जैसे-जैसे हमारे मन का विक्षेप, विकार और आवरण विलीन होता है, वैसे-वैसे सूक्ष्म पर आया हुआ आवरण दूर हटता चला जाता है।

हमारी निरावरण अवस्था ही आत्मा का स्वरूप है। यही हमारी मुक्ति है। आत्मा और मुक्ति का स्वरूप एक है। जो आत्मा है वही मुक्ति है और जो अनात्मा है वही बन्धन है। हम जब तक बन्धन की स्थिति में रहते हैं, तब तक हमें अपना स्वरूप उपलब्ध नहीं होता। जैसे-जैसे हम बन्धन को काटते चले जाते हैं, वैसे-वैसे ही हमारी मुक्ति होती जाती है। मुक्ति केवल अंतिम क्षण में ही नहीं होती किन्तु उसका एक क्रम होता है। उसके अनुसार साधना के हर क्षण में मुक्ति होती है। साधना जैसे ही चरम बिन्दु पर पहुंचती है, वैसे ही मुक्ति का परिपूर्ण रूप प्रकट हो जाता है।

आत्मा एक द्रव्य है। प्रत्येक द्रव्य अनन्त-धर्मात्मक होता है। आत्मा के स्वरूप की व्याख्या उन धर्मों के आधार पर की जा सकती है जो धर्म परमाणु समुदय से प्रभावित होते हैं। कुछ परमाणु आत्मा के ज्ञान, दर्शन को आवृत करते हैं। कुछ परमाणु आत्मा में विकार उत्पन्न करते हैं। कुछ परमाणु आत्मा के वीर्य का प्रतिघात या अवरोध करते हैं। कुछ परमाणु पारमाणविक संयोग या प्राप्ति के हेतु बनते हैं। इस प्रकार आवरण, विकार, प्रतिघात और प्राप्ति—इन चार रूपों में परमाणु आत्मा को प्रभावित करते हैं। यह प्रभावित अवस्था ही बन्धन है। इस प्रभाव से छूटना ही मुक्ति है और वही आत्मा का स्वरूप है। निरावरणदशा आत्मा का स्वरूप है। इसका अर्थ है ज्ञान और दर्शन का पूर्णरूपेण प्रगट हो जाना। वीतरागता आत्मा का स्वरूप है। इसका अर्थ है विकार से पूर्णरूपेण मुक्त हो जाना। शक्ति आत्मा का स्वरूप है। परमाणुओं से असंबद्ध होना आत्मा का स्वरूप है। उस स्वरूप की उपलब्धि ही साधना का प्रयोजन है। बन्धन-मुक्ति से बढ़कर साधना का और प्रयोजन हो ही क्या

सकता है ?

११ मनो वाक् काय आनापान-इन्द्रिय-आहाराणां निरोधो योगः ॥

१२ संवरो गुप्तिर्निरोधो निवृत्तिः इति पर्यायाः ॥

१३ शोधनं च ॥

१४ समितिः सत्प्रवृत्तिर्विशुद्धिः इति पर्यायाः ॥

१५ पूर्वं शोधनं ततो निरोधः ॥

१६ हित-मित-सात्त्विकाहरणं आहारशुद्धिः ॥

१७ स्वविषयान् प्रति सम्यग्योग इन्द्रियशुद्धिः ॥

१८ प्रतिसंलीनता च ॥

१९. प्राणायाम-समदीर्घश्वास कायोत्सर्गैः आनापानशुद्धिः ॥

२० कायोत्सर्गासन-बन्ध-व्यायाम प्राणायामैः कायशुद्धिः ॥

२१ निस्संगत्वेन च ॥

२२ प्रलम्बनाद्यभ्यासेन वाक्शुद्धिः ॥

२३ सत्यपरत्वेन च ॥

२४ बृहत्संकल्पकायसन्निवेशाभ्यां मनःशुद्धिः ॥

११ बन्धन-मुक्ति के लिए मन वाणी काय आनापान इन्द्रिय और आहार के निरोध को योग कहा जाता है।

१२ संवर गुप्ति निरोध और निवृत्ति—ये उसके पर्यायवाची नाम हैं।

१३ मन वाणी काय आनापान इन्द्रिय और आहार की शुद्धि को भी योग कहा जाता है।

१४ समिति सत्प्रवृत्ति और विशुद्धि—ये उसके पर्यायवाची नाम हैं।

१५ पहले मन आदि का शोधन होता है फिर निरोध।

१६ हितकर भोजन करना मितभोजन करना—ठूंस ठूंसकर न खाना मित द्रव्य खाना—बहुत वस्तुएं एक साथ न खाना मित समय में खाना—समूचे दिन खाते ही रहना मित-

मसाले आदि उत्तेजक वस्तुएं न खाना—ये आहारशुद्धि के उपाय है।

१७. स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र का अपने-अपने विषयो (स्पर्श, रस, गन्ध, रूप और शब्द) के प्रति जो सम्यग् योग होता है—निर्विकार और शान्त प्रवृत्ति होती है, वह इन्द्रिय-शुद्धि का उपाय है।

१८ प्रतिसलीनता भी इन्द्रियशुद्धि का उपाय है।

१९ प्राणायाम, समतालश्वास, दीर्घश्वास और कायोत्सर्ग के द्वारा श्वासोच्छ्वास की शुद्धि होती है।

२० कायोत्सर्ग आदि आसनो, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, जालन्धर-बन्ध, व्यायाम और प्राणायाम के द्वारा काय की शुद्धि होती है।

२१ निर्लेपता के द्वारा भी काय की शुद्धि होती है।

२२ ऊ, अर्ह आदि शब्दो के लम्बे उच्चारण से वाणी की शुद्धि होती है।

२३ सत्यपरकता से भी वाणी की शुद्धि होती है।

२४ दृढ सकल्प करने व एक लक्ष्य पर स्थिर होने से मन की शुद्धि होती है।

योग

प्रश्न क्या जैन साहित्य मे 'योग' शब्द का व्यवहार हुआ है?

उत्तर जैन साहित्य मे 'योग' शब्द का व्यवहार अनेक रूपो मे हुआ है—अध्यात्मयोग, भावनायोग, सवर, ध्यानयोग आदि। सूत्रकृताग जैसे प्राचीन सूत्र मे 'योग' शब्द का व्यवहार हुआ है। जैन तत्त्वविद्या मे मन, वाणी और शरीर की प्रवृत्ति को भी योग कहा गया है। उसका प्रयोग बहुत प्रचलित है, इसलिए साधना के अर्थ मे सवर या प्रतिमा का प्रयोग अधिक प्रचलित है।

जैन तत्त्व-विद्या के अनुसार हमारे जीवन के छह शक्ति-स्रोत

(पर्याप्तिया) और दस शक्ति केन्द्र (प्राण) हैं।

छह शक्ति-स्रोत

१ आहार पर्याप्ति
२ शरीर पर्याप्ति
३ इन्द्रिय पर्याप्ति
४ श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति
५ भाषा पर्याप्ति
६ मन पर्याप्ति

दस शक्ति केन्द्र

१ श्रोत्रेन्द्रियप्राण	६ मनोबल
२ चक्षु इन्द्रिय प्राण	७ वचन-बल
३ घ्राणेन्द्रिय प्राण	८ काय-बल
४ रसनेन्द्रियप्राण	९ श्वासोच्छ्वास प्राण
५ स्पर्शनेन्द्रिय प्राण	१० आयुष्यप्राण।

इनमे परस्पर कार्य कारण का भाव प्रतीत होता है। शक्ति स्रोत कारण हैं और शक्ति-केन्द्र उनके कार्य है। सख्या विस्तार को सक्षेप मे लाने पर दोनों की सख्या समान हो जाती है।

शक्ति-स्रोत	शक्ति केन्द्र
आहार पर्याप्ति	आयुष्य प्राण
शरीर पर्याप्ति	कायबल
इन्द्रिय पर्याप्ति	इन्द्रिय प्राण
श्वासोच्छ्वास पर्याप्ति	श्वासोच्छ्वास प्राण
भाषा पर्याप्ति	वचनबल
मन पर्याप्ति	मनोबल

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र न तो चेतन की विशुद्ध अवस्था मे होते हैं और न अचेतन मे होते हैं। ये चेतन और अचेतन के सयोग मे उत्पन्न होते हैं। हम जितने प्राणी हैं वे सब चेतन और अचेतन (पुद्गल)

के सयोग की अवस्था मे है। हमारे विशुद्ध चैतन्य का उदय नही हुआ है, इसलिए हम केवल चैतन्य की भूमिका मे अवस्थित नही है। हम अनुभव-शक्ति व ज्ञान-शक्ति से सम्पन्न है, इसलिए हम केवल अचेतन की भूमिका मे भी नही है। हम चैतन्य और अचैतन्य की सयुक्त भूमिका मे हैं।

ये शक्ति-स्रोत और शक्ति-केन्द्र ही जीव और निर्जीव तत्त्व के बीच व्यावर्तक (भेद डालने वाले) है। जिनमे आहार करने, शरीर-रचना, इन्द्रिय-रचना व श्वास लेने की शक्ति है, वे जीव है और जिनमे ये शक्तिया नही है, वे निर्जीव है।

भाषा-शक्ति व चिंतन-शक्ति जीव के लक्षण नही है किन्तु वे विकास के अग्रिम सोपान है।

ये शक्ति-स्रोत जीवन के आरम्भ-काल मे ही निष्पन्न हो जाते हैं। इनकी क्रियाशीलता ही प्राणी का जीवन है। प्रश्न होता है कि जीवन का साध्य क्या है? जीवन का कोई एक निश्चित साध्य है, ऐसा प्रतीत नही होता। जीवन जब प्रबुद्ध होता है तब उसका साध्य होता है मुक्ति। मुक्ति के दो साधन हैं शोधन और निरोध। विस्तार मे इनके बारह प्रकार हो जाते हैं

१ आहार शुद्धि	७ श्वासोच्छ्वास शुद्धि
२ आहार निरोध	८ श्वासोच्छ्वास निरोध
३ शरीर शुद्धि	९. वाक् शुद्धि
४ शरीर निरोध	१० वाक् निरोध
५ इन्द्रिय शुद्धि	११ मन शुद्धि
६ इन्द्रिय निरोध	१२ मन निरोध

प्रथम भूमिका शोधन की है। शुद्धि जब अपने चरम बिन्दु पर पहुच जाती हैं तब निरोध की भूमिका प्रारम्भ हो जाती है।

योग का विशिष्ट अग निरोध है। जब तक मन आदि का निरोध नही होता तब तक शोधन का क्रम विकासशील नही बनता। निरोध की अपेक्षा शोधन सरल है, इसलिए वह सहजतया हो जाता है किन्तु उसकी

कल्पनाओं का योग नहीं करता। स्पन्दन और विकार एक नहीं है। इन्द्रियों के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना ऐन्द्रियिक ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना से मिश्रित होकर राग-द्वेष से जुड़ जाता है तब वह ऐन्द्रियिक विकार हो जाता है। सम्यग् योग का अर्थ है वर्तमान में प्राप्त विषयों को जानना, उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओं को न जोड़ना—केवल रूप को देखना, केवल शब्द को सुनना, केवल गन्ध, रस और स्पर्श की अनुभूति करना।

इन्द्रिय-शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिसंलीनता है। इन्द्रिय शुद्धि की प्रथम भूमिका में विषय और इन्द्रियों के सम्बन्ध की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है और द्वितीय भूमिका में विषयों से सम्पर्क-विच्छेद का अभ्यास किया जाता है। आंख बन्द कर लेना—यह रूप के साथ चक्षु का सम्बन्ध-विच्छेद है। कान बन्द कर लेना—यह शब्द के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध-विच्छेद है। नाक को बन्द कर लेना—यह गंध के साथ घ्राण का सम्बन्ध-विच्छेद है। आहार नहीं करना—यह रस के साथ रसना का सम्बन्ध-विच्छेद है। स्पर्श नहीं करना—यह स्पर्श के साथ स्पर्शन का सम्बन्ध-विच्छेद है। इन्द्रियों का बहिर्जगत् में प्रयोग न करना, उन्हें अपने-अपने गोलकों में ही सीमित रखना प्रतिसंलीनता है।

इन्द्रियों की बाह्यलीनता समाप्त कर उनमें अन्तर्लीनता उत्पन्न करना, यह भी प्रतिसंलीनता है। यह आकर्षण के विकर्षण का सिद्धान्त है। अन्तर् के प्रति आकर्षण कम होगा तो बाह्य के प्रति आकर्षण अधिक होगा। बाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर् के प्रति आकर्षण बढ़ेगा। आकर्षण की दो भूमिकाएं हैं: बाह्य और अन्तरंग। इन्द्रियां से हटकर अन्तरंग आकर्षण की ओर मुड़ जाएं तो अन्तरंग शक्ति का द्वार खुल जाता है। दोनों भूमिकाओं का तुलनात्मक रूप निम्न यन्त्र से

अन्तर्-आकर्षण

३ शरीर को उचित ताप-प्रदान
४. बलकारक
५ शीघ्र पाचन
६ अनुत्तेजक
७ स्मृति, आयु, वर्ण, ओज, सत्त्व एव शोभा की वृद्धि।

मिताहार—परिमित भोजन करना। भोजन की निश्चित मात्रा का निर्देश करना कठिन है। जितना खाने पर एक घटा बाद भी पेट पर भार न हो, पानी पीने पर पेट फटता न हो, वह मित-भोजन है।

सात्विकाहार—मादक व उत्तेजक वस्तुओ का वर्जन, शरीर, इन्द्रिय व मन की प्रसन्नता व लाघव मे बाधा न पड़े वैसा भोजन।

इन्द्रिय-शुद्धि के उपाय

१ इन्द्रियो का सम्यग् योग
२ प्रतिसलीनता

इन्द्रियो की प्रवृत्ति के तीन प्रकार है—अयोग, अतियोग और योग। इन्द्रियो की सर्वथा प्रवृत्ति न करना अयोग है। उनकी मर्यादा से अधिक प्रवृत्ति करना अतियोग है। ये दोनो इन्द्रिय-दोष उत्पन्न करते है। इन्द्रियो की उचित प्रवृत्ति करना योग है।

इन्द्रिया ज्ञान के साधन हैं। वे विषयो के प्रति व्यापृत होती है, यह उनकी स्वाभाविक प्रवृत्ति है। यह शक्य नही कि आखे हो और वे रूप या वर्ण को न देखें। यह शक्य नही कि कान हो और वे शब्द न सुनें। यह शक्य नही कि घ्राण हो और उसे गन्ध की अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि रसना हो और उसे रसकी अनुभूति न हो। यह शक्य नही कि स्पर्शन हो और उसे स्पर्श की अनुभूति न हो। इन्द्रियो के योग का सम्बन्ध हमारे स्वास्थ्य से है जबकि उनके सम्यग् योग का सम्बन्ध हमारी साधना से है। साधक को आख प्राप्त है, इसलिए वह रूप को देखता है पर उसके साथ

कल्पनाओ का योग नही करता। स्पदन और विकार एक नही हैं। इन्द्रियो के द्वारा दृश्य जगत् का ज्ञान करना ऐन्द्रियिक ज्ञान है। यह ज्ञान कल्पना से मिश्रित होकर राग-द्वेष से जुड जाता है तब वह ऐन्द्रियिक विकार हो जाता है। सम्यग योग का अर्थ है वर्तमान मे प्राप्त विषयो को जानना उनके साथ अतीत की स्मृति और भविष्य की कल्पनाओ को न जोडना—केवल रूप को देखना, केवल शब्द को सुनना केवल गन्ध रस और स्पर्श की अनुभूति करना।

इन्द्रिय शुद्धि का दूसरा उपाय प्रतिसलीनता है। इन्द्रिय शुद्धि की प्रथम भूमिका म विषय और इन्द्रिया के सम्बन्ध की शुद्धि का अभ्यास किया जाता है और द्वितीय भूमिका मे विषयो से सम्यक विच्छेद का अभ्यास किया जाता है। आख बन्द कर लेना—यह रूप के साथ चक्षु का सम्बन्ध विच्छेद है। कान बन्द कर लेना—यह शब्द के साथ श्रोत्र का सम्बन्ध विच्छेद है। नाक को बन्द कर लेना—यह गन्ध के साथ घ्राण का सम्बन्ध विच्छेद है। आहार नही करना—यह रस के साथ रसना का सम्बन्ध विच्छेद है। स्पर्श नही करना—यह स्पर्श के साथ स्पर्शन का सम्बन्ध विच्छेद है। इन्द्रियो का बहिर्जगत् म प्रयोग न करना उन्हे अपने-अपने गोलको म ही सीमित रखना प्रतिसलीनता है।

इन्द्रियो की बाह्यलीनता समाप्त कर उनमे अन्तरलीनता उत्पन्न करना यह भी प्रतिसलीनता है। यह आकर्षण के विकर्षण का सिद्धान्त है। अन्तर के प्रति आकर्षण कम होगा तो बाह्य के प्रति आकर्षण अधिक होगा। बाह्य के प्रति आकर्षण कम होगा तो अन्तर् के प्रति आकर्षण बढ जाएगा। आकर्षण की दो भूमिकाए है, बाह्य और अन्तरग। इन्द्रिया की शक्ति अन्तरग आकर्षण की ओर मुड जाए तो अन्तरग शक्ति का स्रोत खुल जाता है। दोनो भूमिकाओं का तुलनात्मक रूप निम्न यत्र से स्पष्ट हो जाएगा

बाह्याकर्षण	अन्तर्-आकर्षण
बाह्य ध्वनि	अन्तर ध्वनि

बाह्य दर्शन	अन्तर्-दर्शन
बाह्य गंध	अन्तर्-गंध
बाह्य रस	अन्तर्-रस
बाह्य स्पर्श	अन्त स्पर्श

हमारी चेतना अशब्द, अरूप, अगंध, अरस और अस्पर्श है।

हम अन्तर्-ध्वनि के प्रति आकर्षण उत्पन्न कर शुद्ध चेतना की भूमिका मे नही पहुच जाते हैं। इस प्रयत्न मे हम केवल स्थूल से सूक्ष्म जगत् तक पहुच पाते है। हमारे सूक्ष्म शरीर के साथ भी शब्द, रूप, रस, गंध और स्पर्श का सम्बन्ध होता है। उसी के प्रति एकाग्र होकर हम अपनी इन्द्रिय-शक्ति का नया आयाम प्राप्त करते है।

आनापान शुद्धि के उपाय :

१ प्राणायाम
२ समतालश्वास
३ दीर्घश्वास
४. कायोत्सर्ग

प्राणायाम—प्राणवायु के विस्तार को प्राणायाम कहा जाता है। उसके तीन अंग है :

१ पूरक
२ रेचक
३ कुम्भक

हम प्राणवायु को नथुनो द्वारा खीचकर नाभि तक ले जाते है, वह पूरक है। प्राण को नाभि से उठाकर नथुनो द्वारा बाहर ले जाते है, वह रेचक है। जिस अवस्था मे प्राणवायु का ग्रहण और विसर्जन नही करते है, वह कुम्भक है। यह श्वास को रोकने की अवस्था है। श्वास को भीतर ले जाकर रोकते है, उसे अन्त कुम्भक कहा जाता है। उसे बाहर ले जाकर रोकते है, उसका नाम बहि कुम्भक है।

प्राण हमारी नाडियो से प्रवाहित होता है। वह कभी बाए नथुने

से प्रवाहित होता है। उस भाग को इडा नाडी या चन्द्रस्वर कहा जाता है। प्राण कभी दाए नथुने से प्रवाहित होता है, उस भाग को पिंगला नाडी या सूर्यस्वर कहा जाता है। प्राण कभी दोनो नाडियो के बीच मे प्रवाहित होता है उस भाग का नाम सुषुम्ना नाडी है। चन्द्रस्वर शीत और सूर्यस्वर उष्ण होता है। सुषुम्ना मे सहज ही मन स्थिर हो जाता है। कपालभाति प्राणायाम से सुषुम्नास्वर चलने लग जाता है।

प्राणायाम के अनेक प्रकार है किन्तु वायु शुद्धि के लिए सर्वाधिक उपयोगी और सर्वाधिक निर्दोष अनुलोम विलोम प्राणायाम है।

अनुलोम विलोम प्राणायाम—दाए हाथ के अगूठे से दाए नथुने को बन्द कर बाए नथुने से श्वास ले और दाए नथुने से उसका रेचन करें। दाए हाथ की अनामिका और कनिष्ठा इन दो उगलियो से बाए नथुने को बन्द कर दाए नथुने से श्वास ले और बाए नथुने से उसका रेचन करें। प्रारम्भ मे ऐसी आठ-दस आवर्तिया की जा सकती है, फिर धीमे धीमे तीस तक बढाई जा सकती है।

प्राणायाम की कालमात्रा इस प्रकार होती है

पूरक	आठ मात्रा
रेचक	सोलह मात्रा
कुम्भक	बत्तीस मात्रा

सकुम्भक अनुलोम विलोम प्राणायाम—प्राणायाम की इस द्वितीय भूमिका मे कुम्भक किया जाना चाहिए। कुम्भक का कालमान ऊपर बताया गया है।

समूलबन्ध अनुलोम विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया में अनुलोम विलोम प्राणायाम के साथ मूलबन्ध और जुड जाता है।

सोड्डीयान अनुलोम विलोम प्राणायाम—इस प्रक्रिया म कुम्भक और मूलबन्ध सहित अनुलोम विलोम प्राणायाम के साथ उड्डीयान बन्ध और जुड जाता है।

श्वास के दोष विषम और ह्रस्व श्वास से उत्पन्न होते हैं और वे मन

को चचल बनाते है। मन की स्थिरता के लिए श्वास को विशुद्ध बनाना नितात आवश्यक है। साधना की भाषा मे जैसा कि मैं समझ पाया हूं श्वास और मन का गहरा सम्बन्ध है। श्वास की चचलता मन की चचलता को जन्म देती है और मन की चचलता फिर श्वास को चचल बनाती है। इस क्रम मे स्थिरता कम होती चली जाती है। अत मन की शुद्धि के लिए श्वास की शुद्धि बहुत आवश्यक है।

प्राणायाम का क्रमिक विकास—प्रारम्भ मे प्राणायाम के दो अगों, पूरक और रेचक का ही अभ्यास करना चाहिए। सोमदेव सूरि ने लिखा है ·

> मन्द मन्द क्षिपेद् वायु, मन्द मन्द विनिक्षिपेत्।
> न क्वचिद् धार्यते वायुर्न च शीघ्र प्रमुच्यते ॥
>
> (यशस्तिलक ३९)

प्राणवायु को धीमे-धीमे लेना चाहिए और धीमे-धीमे छोडना चाहिए। वायु को न रोका जाए और न शीघ्रता से छोडा जाए। प्रारम्भ मे प्राण को रोकने का अभ्यास होता है, इसलिए उसे रोक लेने पर शीघ्रता से छोडने की स्थिति पैदा हो जाती है। वैसा करने से हानि होती है।

प्रारम्भ मे दीर्घ श्वास का अभ्यास, फिर पूरक और रेचक का अभ्यास और फिर कुम्भक का अभ्यास—यह प्राणायाम का विकासक्रम है। हठयोग मे प्राणायाम के अनेक प्रकार बतलाए गए है। शारीरिक सिद्धियो के लिए उनका उपयोग भी हो सकता है किन्तु ध्यान की सिद्धि के लिए उनका उपयोग हमारे अनुभव मे नही है। ध्यान की सिद्धि के लिए उसी प्राणायाम का उपयोग होता है, जिससे प्राण सूक्ष्म बन सके। नाभि, नासाग्र, भृकुटि और मस्तिष्क मे मन को केन्द्रित करने से प्राण सूक्ष्म हो जाता है। कुम्भक करने से तो वह सूक्ष्म होता ही है।

रेचक और पूरक का सम्यक् अभ्यास हो जाने के बाद पाच-दस सेकण्ड का कुम्भक किया जाए और वह भी चार-पाच बार। फिर धीमे-

धीमे समय और बार दोनो बढाए जा सकते हैं।

जिसे मन को स्थिर करने की सामान्य अपेक्षा हो, वह दो-तीन मिनट का कुम्भक दिन रात मे दो-चार बार कर ले और जिसे विशेष साधना करनी हो वह घटो तक कुम्भक का अभ्यास कर सकता है।

कुम्भक जितना शक्तिस्रोत है, उतना ही भयकर है। कुम्भक की विशेष साधना किसी अनुभवी साधक की देख रेख मे ही की जा सकती है। उसमे खाने पीने बोलने की चर्या मे पर्याप्त परिवर्तन करना पडता है।

प्राणायाम के व्यावहारिक लाभ—पूरक से पुष्टि प्राप्त होती है। रेचक से उदर की व्याधिया क्षीण होती है। कुम्भक से आतरिक शक्तिया जागृत होती है। चन्द्रस्वर से गर्मी शान्त होती है और सूर्यस्वर से गर्मी बढती है। वायु तथा कफ के प्रकोप मिटते है। जो स्वर चल रहा हो उसे रोक विपरीत स्वर चलाने से तात्कालिक उपद्रव शान्त होते है। दूषित प्राणवायु से जीवन की हानि होती है और शुद्ध प्राणवायु से जीवनी-शक्ति का विकास होता है।

इन्द्रियविजय, मनोविजय कषायविजय—इन शब्दो से हम सुपरिचित है किन्तु प्राणविजय शब्द से हम सुपरिचित नही है। जैन लोगों म एक साधारण धारणा है कि प्राणायाम हमारी परम्परा म मान्य नही है वह महर्षि पतजलि तथा हठयोग की परम्परा मे मान्य रहा है। यह धारणा समुचित नही है।

आवश्यक नियुक्ति म श्वास का निरोध न किया जाए ऐसा उल्लेख मिलता है। किन्तु यह निषेध किसी विशेष स्थिति मे किया गया प्रतीत होता है। भद्रबाहु स्वामी महाप्राण ध्यान की साधना कर रहे थे। उसकी आधार भित्ति प्राणायाम है। अन्य अनेक आचार्यों ने ध्यान सवरयोग की साधना की है। उसम भी प्राणायाम प्रमुख होता है। महाप्राण साधना या ध्यान योग की साधना म बारह-बारह वष लग जाते थे। इस साधना म लगनेवाले समीप काय करने से विरत हो जाते थे तथा किसी प्रमादवश प्राणहानि भी हो जाती थी। सभव है इसी प्रकार के किसी कारण को ध्यान

मे रखकर आवश्यक-निर्युक्ति मे श्वास-निरोध का निषेध किया गया।

वस्तुवृत्या प्राणायाम जैन-परम्परा से असम्मत नही है। प्राणायाम के बिना प्राण-विजय नही हो सकती और उसके बिना इन्द्रिय-विजय, मनो-विजय और कषाय-विजय का होना साधारणतया सभव नही है।

योग की भाषा मे प्राण, बिन्दु (वीर्य) और मन पर्यायवाची जैसे है। प्राण पर विजय पा लेने से बिन्दु और मन पर विजय हो जाती है। बिन्दु पर विजय पा लेने से प्राण और मन विजित हो जाते है। मन पर विजय पा लेने से प्राण और बिन्दु सध जाते है। तीनो मे से किसी एक की साधना करने पर शेष दो स्वय सध जाते है।

प्राण, बिन्दु और मन—इन तीनो मे प्राण का स्थान पहला है। पहला इस अर्थ मे है कि प्राण की साधना के बिना उन दोनो की साधना सर्व-साधारण के लिए कठिन कार्य है।

समताल श्वास—जितनी मात्रा मे पहला श्वास लिया गया, उतनी ही मात्रा मे दूसरा, तीसरा। इस प्रकार तालबद्ध श्वास लेना समताल श्वास है।

दीर्घश्वास—लम्बा श्वास लेना।

कायोत्सर्ग का अर्थ है—शरीर की चचलता का विसर्जन। इसका विवेचन कायोत्सर्ग के प्रकरण मे किया जायेगा।

कायशुद्धि के उपाय

कायोत्सर्ग, आसन, मूलबन्ध, उड्डीयानबन्ध, जालन्धरबन्ध, व्यायाम, प्राणायाम और निर्लेपता।

कायशुद्धि के उपयुक्त आसनो का वर्णन आसन प्रकरण मे किया जाएगा।

मूलबन्ध—गुदा को ऊपर की ओर खीचने को मूलबन्ध कहा जाता है। साधना की प्रत्येक अवस्था मे मूलबन्ध करना बहुत आवश्यक है। यह एक प्रकार से साधना का आधारभूत है। इससे मूल नाडी सीधी हो जाती है। मन की एकाग्रता करने के लिए यह बहुत अपेक्षित है।

उड्डीयान बन्ध—श्वास का रेचन कर पेट को सिकोड़ना उड्डीयान बन्ध है। उड्डीयान करते समय छाती का भाग थोड़ा आगे की ओर उभरा हुआ होना चाहिए। उदर सम्बन्धी दोषों को मिटाने के लिए यह एक महत्त्वपूर्ण उपाय है। इससे अग्नि प्रज्वलित होती है। पेट को सिकोड़ने पर इसका अन्तर्भाग पृष्ठ रज्जु से सटकर उस पर दबाव डालता है। उससे तेजस्शक्ति (कुण्डलिनी) और ज्ञान-तन्तु दोनों प्रदीप्त होते हैं।

जालन्धर बन्ध—ठुड्डी को कण्ठकूप में स्थापित करने को जालन्धर बन्ध कहा जाता है। सर्वांगासन, हलासन, मत्स्यासन की एक मुद्रा में यह अपने आप हो जाता है। मानसिक विकास के लिए यह बहुत उपयोगी है। इससे कण्ठमणि पर उचित दबाव पड़ता है। आधुनिक शरीर शास्त्रियों के अनुसार कण्ठमणि ही शरीर में रक्त, ताप तथा श्रम ईर्ष्या द्वेष आदि वृत्तियों को नियमित करता है। यह हमारे शरीर की नियामक ग्रन्थि है। इस पर जालन्धर बन्ध के द्वारा हम नियन्त्रण रख सकते हैं और अनेक उपयोगी रसों का स्राव कर सकते हैं।

मूलबन्ध लम्बे समय तक तथा चाहे जितनी बार किया जा सकता है। उड्डीयान बन्ध का अभ्यास भोजन करने से पूर्व किया जा सकता है किन्तु प्रारम्भ में लम्बे समय तक करना उचित नहीं है। पेट को भीतर की ओर सिकोड़कर आधा मिनट तक रखा जा सकता है। एक सप्ताह के अभ्यास के बाद एक मिनट तक। इस प्रकार प्रति सप्ताह आधा या एक मिनट बढ़ाते-बढ़ाते अपनी शक्ति व सहिष्णुता के अनुसार आधा घंटा तक बढ़ाया जा सकता है। इस बन्ध के साथ मूलबन्ध अवश्य होना चाहिए तथा आंखें खुली नहीं होनी चाहिए अन्यथा उनकी ज्योति नष्ट होने की सम्भावना रहती है। जालन्धर बन्ध का समय भी उड्डीयान बन्ध की भांति क्रमशः बढ़ता है। इसे साधारण आदमी को पांच-सात मिनट से ज्यादा नहीं बढ़ाना चाहिए। कुछ समय के लिए तीनों बन्ध एक साथ किए जा सकते हैं।

व्यायाम—हाथ, पैर या किसी भी अवयव को इच्छानुसार सिकोड़ना

और फैलाना व्यायाम है।

निर्लेपता—विषयों की आसक्ति से शरीर की अशुद्धि होती है। विषय विकार के हेतु बनते हैं और विकार से कायिक दोष उत्पन्न होते हैं। अनासक्त (निर्लेप) व्यक्ति सहज भाव से कायिक दोषों से बच जाता है।

वाक्शुद्धि के उपाय

१ प्रलम्बनाद का अभ्यास

२ सत्यपरक प्रयोग

वाक् मनपरिष्कृत होकर ही प्रगट होती है। मन की सरलता होती है तब वाणी शुद्ध रहती है। मन की कुटिलता होने पर वह अशुद्ध हो जाती है। जिस साधक का मन सरल और पवित्र होता है, उसे वाक्-सिद्धि प्राप्त होती है। वह जो कहता है वही हो जाता है। वाणी में यह शक्ति उसकी मानसिक पवित्रता से प्राप्त होती है।

ॐ, अर्हं, सोहम्, आदि मन्त्राक्षरों का दीर्घ उच्चारण करने से मन वाणी के साथ जुड़ जाता है। मन का योग पाकर वाणी शक्तिशाली हो जाती है। वह वायुमण्डल में तीव्र कम्पन पैदा कर देती है। उससे अनिष्ट परमाणु दूर हो जाते हैं और इष्ट परमाणुओं का परिपार्श्व बन जाता है।

दीर्घोच्चारण का अभ्यास दो मिनट से प्रारम्भ कर पन्द्रह मिनट तक बढ़ाना चाहिए। प्रति सप्ताह दो मिनट बढ़ाया जा सकता है। इस अभ्यास में मन को समस्याओं से मुक्त और सरल रखना आवश्यक है।

मन-शुद्धि के उपाय

१ दृढ़ संकल्प

२ एकाग्रसन्निवेशन

दृढ़ संकल्प—हमारे मन में कामनाएं उठती रहती हैं। उन कामनाओं में कार्यरूप में बदलने की क्षमता होती है, इसीलिए उन्हें संकल्प कहा जाता है। समुद्र में ऊर्मियों की भांति संकल्प हमारे मन में उत्पन्न होते हैं और विलीन हो जाते हैं। वे अस्थिर संकल्प होते हैं। उनसे हमें कोई लाभ

प्राप्त नहीं होता। स्थिर संकल्प कार्यरूप में परिवर्तित हुए बिना विलीन नहीं होता। वह दीर्घकाल तक टिका रहता है। उसे भावनात्मक रूप देने—बराबर उसकी पुनरावृत्ति करने से वह दृढ़ हो जाता है। दृढ़ संकल्प में कार्यरूप में परिणत होने की क्षमता पैदा होती है। उसके द्वारा हम मन के स्वभाव को बदल सकते हैं। बुरे विचारों को छोड़ने व अच्छे विचारों की आदत डालने में दृढ़ संकल्प हमारी बहुत सहायता करता है।

एकाग्रसन्निवेशन—एकाग्रता मन की निरोधावस्था नहीं है। वह उसकी किसी एक विषय में निरोधावस्था है। अनेक मार्गों में जाते हुए प्रवाह को एक मार्ग में मोड़ देना है। नदी का प्रवाह जब अनेक मार्गों में बहता है तब वह क्षीण हो जाता है। एक प्रवाह में जो शक्ति होती है वह विभक्त प्रवाहों में नहीं हो सकती। सूर्य की बिखरी रश्मियों में वह शक्ति नहीं होती जो केन्द्रित किरणों में होती है। मन का प्रवाह भी एक आलम्बन की ओर निरंतर बहता है तब उसमें अकल्पित शक्ति आ जाती है। एकाग्रता के क्षण में मन की शान्ति और स्थिरता का अर्थ है चिन्तन प्रवाह को एक ही दिशा में प्रवाहित करना। मन के एकाग्र प्रवाह की अनेक पद्धतियां हैं। उनमें से कुछ पद्धतियों को यहां प्रस्तुत किया जाता है।

१ द्रष्टा की स्थिति—मन की चंचलता को रोकने का यत्न मत कीजिए। वह जहां जाता है उसे देखते रहिए। उस समय दृश्य या भय मन को ही बना लीजिए। इस प्रकार तटस्थ द्रष्टा के रूप में जागरूक रहकर आप मन का अध्ययन ही नहीं कर पाएंगे किन्तु उस पर अपना प्रभुत्व भी स्थापित कर लेंगे।

२ विकल्पों की उपेक्षा—आपके मन में जो विकल्प उठते हैं उनकी उपेक्षा कीजिए। जो प्रश्न उठते हैं उनके उत्तर मत दीजिए। जैसे प्रश्न करने वाला व्यक्ति उपेक्षा पाकर (उत्तर न पाकर) मौन हो जाता है वैसे ही मन भी उपेक्षा पाकर (प्रश्नों का उत्तर न पाकर) शान्त हो जाता है।

३ अप्रयत्न—मन को स्थिर करने का बलात् प्रयत्न मत कीजिए। अप्रयत्न से मन सहज ही शान्त हो जाता है। शरीर को स्थिर और श्वास

को मन्द कीजिए। जैसे-जैसे शरीर स्थिर और श्वास मन्द होगा, वैसे-वैसे मन अपने आप शान्त हो जाएगा।

४ श्वास-योग—मन का श्वास की गति के साथ योग कीजिए। श्वास के आने-जाने के क्रम पर ध्यान लगाइए, श्वास की गिनती कीजिए, मन अपने आप श्वास मे लीन हो जाएगा।

५ आकृति-आलम्बन—अपने आराध्य की आकृति का मानसिक चित्र बनाइए। पहले देश-काल और बाह्य वातावरण के साथ उस आराध्य की आकृति की कल्पना कीजिए, फिर उसे मानसिक चित्रमे बदल दीजिए। वह चित्र बहुत स्पष्ट और प्राणवान जैसा कीजिए।

यदि प्रारम्भ मे ऐसा करना कठिन लगे तो दृश्य आकृतियो पर मन को स्थापित कीजिए और साथ-साथ मानसिक चित्र बनाने का अभ्यास भी करते रहिए।

६ शब्द-आलम्बन—इष्ट मत्रो मे मन को लगाइए। मन का प्रवाह शब्द की दिशा मे प्रवाहित होकर अन्य विकल्पो से शून्य हो जाता है। जप की प्रक्रिया मे इसे विस्तार से बताया जाएगा।

७ दृढ इच्छा-शक्ति—इच्छा-शक्ति भावो से उत्पन्न होती है। भावो की प्रबलता का नाम ही इच्छा-शक्ति है। भावो को इच्छा-शक्ति के रूप मे बदलने का साधन है, स्वत सूचना (Auto Suggestion)। मन को सूचना देने से भावो मे उत्तेजना आरम्भ होती है और वही इच्छा-शक्ति के रूप मे परिणत हो जाती है। इच्छा-शक्ति के विकास का निरन्तर अभ्यास करने से वह दृढ हो जाती है। दृढ इच्छा-शक्ति से मन की एकाग्रता सहज ही सध जाती है।

२५. मिथ्यादृष्टिरविरतिः प्रमादः कषायो योगश्च परमाणुस्कन्धाकर्षणहेतवः ॥

२६. सम्यग्दृष्टिर्विरतिरप्रमादोऽकषायोऽयोगश्च तद्विकर्षणहेतवः ॥

२५ मिथ्यादृष्टि, अविरति, प्रमाद, कषाय और योग (मन तथा शरीर की प्रवृत्ति) के द्वारा आत्मा के साथ

प्रवृत्ति के द्वारा हमारी सहज स्थिरता समाप्त हो जाती है, इसलिए हम आत्म-उपलब्धि के लिए केन्द्रित नही हो पाते।

इस प्रकार आस्रव के द्वारा हमारी चेतना बँधी हुई रहती है। जीवन-पथ की दीर्घ यात्रा मे काल-विपाक के कारण कोई क्षण ऐसा आता है कि आत्मा मे मुक्ति की भावना जाग उठती है। उसकी पूर्ति के लिए योग-साधना का सहारा लिया जाता है। उसका मुख्य हेतु सवर है, ठीक आस्रव का प्रतिपक्ष। आस्रव के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति से दूर रहते है और सवर के द्वारा हम आत्म-स्वभाव की अनुभूति मे प्रवृत्त हो जाते है। जैसे ही हमे देह और आत्मा का भेदज्ञान होता है, वैसे ही हमारा मिथ्यादृष्टिकोण समाप्त हो जाता है। जैसे ही हमे आत्म-स्वभाव की अनुभूति होती है, हमारी आकाक्षाओ का स्रोत रुक जाता है। जैसे ही हम आत्म-उपलब्धि के प्रति जागरूक होते है, हमारा बाह्य जगत् के प्रति आकर्षण समाप्त हो जाता है। जैसे ही हम सहज शान्ति के अनुभव मे लीन होते है, हमारा मानसिक सताप विलीन हो जाता है। जैसे ही हम स्वानुभूति मे निष्पन्द होते हैं, हमारी प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है।

मन, वाणी और कर्म का स्पन्दन होता है तब हम बाह्य जगत् के सम्पर्क मे रहते हैं और जब ये निष्पन्द हो जाते है तब हम अन्तर्जगत् या अपने स्वभाव मे चले जाते है। इसी प्रकार सताप, आकर्षण, आकाक्षा और मिथ्या-दृष्टिकोण हमे बाह्य की ओर उन्मुख करते है। सम्यक् दृष्टि-कोण, सहज तृप्ति, सहज शान्ति और सहज आनन्द हमे आत्मोन्मुखता की ओर ले जाते है। आत्म-विमुखता ही आस्रव है और आत्मोन्मुखता ही सवर है। साधना का अर्थ ही है—आत्मविमुखता से हटकर आत्मोन्मुख होना। यम (महाव्रत), नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा आदि उसी की साधन-सामग्री है। ध्यान और समाधि सवर से भिन्न नही हैं। इसीलिए जैनयोग मे सवर ध्यान योग का सर्वोपरि महत्त्व है।

२७ इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियाणि आत्मनो लिंगम् ॥

२७ इन्द्रिय, मन और अतीन्द्रिय ज्ञान (योगी ज्ञान, प्रातिभ ज्ञान व

प्रत्यक्ष ज्ञान) आत्मा को जानने के साधन है।

साधना का प्रयोजन

अध्यात्म की साधना करने वाले व्यक्ति का मन स्वस्थ रहता है। मन स्वस्थ रहता है, इसका अर्थ है कि शरीर भी स्वस्थ रहता है। शरीर स्वस्थ रहता है इसका अर्थ है कि इन्द्रिया निर्मल रहती है। बुद्धि भी निर्मल रहती है। इस प्रकार स्वास्थ्य और निर्मलता ये दोनो साधना के परिणाम हैं। ये परिणाम है किन्तु मूलभूत प्रयोजन नही है। साधना का मूलभूत प्रयोजन है—सत्य का साक्षात्कार।

सत्य असीम है। हमारे इन्द्रिय मन और बुद्धि की शक्ति सीमित है। हम ससीम साधनो के द्वारा असीम का साक्षात्कार नही कर सकते।

इन्द्रिय मन और बुद्धि के ज्ञान का मूल स्रोत आत्मा है। उसकी चैतन्य शक्ति असीम है। उसे अनावृत कर हम सत्य का साक्षात्कार कर सकते हैं। ध्यान का स्थिर अभ्यास किए बिना हम आत्मा की चैतन्य शक्ति का प्रत्यक्ष उपयोग नही कर सकते। इन्द्रिय मन और बुद्धि का सम्बन्ध स्थूल जगत् या स्थूल सत्य से होता है। उनमे सूक्ष्म सत्य तक पहुचने की क्षमता नही है। ध्यान के द्वारा हम चेतना के सूक्ष्मस्तर तक चले जाते है। सूक्ष्म चैतन्य के द्वारा सूक्ष्म सत्य का प्रत्यक्ष हो जाता है। इस प्रकार अतीन्द्रिय ज्ञान का विकास साधना का मुख्य प्रयोजन है।

अतीन्द्रिय ज्ञान व आत्म-साक्षात्कार म कोई भेद नही है। इसे आत्मोदय भी कहा जा सकता है।

दूसरा प्रकरण

१ मूढ - विक्षिप्त - यातायात - श्लिष्ट-सुलीन - निरुद्धभेदाद् मनः षोढा ॥

२ दृष्टिचरित्रमोह-परिव्याप्तं मूढम् ॥

३. अनर्हमेतद् योगाय ॥

४. इतस्ततो विचरणशीलं विक्षिप्तम् ॥

५. कदाचिदन्तः कदाचिद् बहिर्विहारि यातायातम् ॥

६. प्रारम्भिकाभ्यासकारिणे द्वयमिदम् ॥

७. विकल्पपूर्वकं बाह्यवस्तुनो ग्रहणाद् अल्पस्थैर्यं अल्पानन्दञ्च ॥

८. स्थिरं श्लिष्टम् ॥

९. सुस्थिरं सुलीनम् ॥

१० द्वयमिदं सञ्जाताभ्यासस्य योगिनः ॥

११. बाह्यवस्तुनः अग्रहणाद् दृढस्थैर्यं महानन्दञ्च ॥

१२. मनोगतध्येयमेवास्य विषयः ॥

१३. निरालम्बनं केवलमात्मपरिणतं निरुद्धम् ॥

१४. इदं वीतरागस्य ॥

१५. सहजानन्दप्रादुर्भावः ॥

१- मन छह प्रकार का होता है -

१ मूढ २ विक्षिप्त

३ यातायात ४ श्लिष्ट
५ सुलीन ६ निरुद्ध

२ जो मन दृष्टिमोह (मिथ्यादृष्टि) तथा चरित्रमोह (मिथ्या आचार) से परिव्याप्त होता है उसे मूढ कहा जाता है।

३ मूढ दशावाला मन योग साधना के योग्य नही होता। जिसकी दृष्टि सम्यग् नही होती, जिसका चरित्र यम नियम युक्त नही होता वह व्यक्ति योग-साधना का अधिकारी नही होता।

४ जो मन इधर उधर विचरण करता रहता है, किसी एक विषय पर निश्चल नही रहता उसे विक्षिप्त कहा जाता है।

५ जो मन कभी अन्तर्मुखी बनता है और कभी बहिर्मुखी—उसे यातायात कहा जाता है।

६ विक्षिप्त और यातायात मन योग का प्रारम्भिक अभ्यास करने वाले व्यक्तियो मे होते हैं।

७ इन दोनो मनोभूमिकाओ म विकल्पपूर्वक बाह्य वस्तुओं का ग्रहण होता रहता है इसलिए इनम स्थिरता अल्प मात्रा वाली एव अल्पकालीन होती है तथा सहज आनन्द का अनुभव भी अल्प होता है।

८ अपने ध्येय म स्थिर बने हुए मन को श्लिष्ट कहा जाता है।

९ जो मन अपने ध्येय म सुस्थिर बन जाता है उसे सुलीन कहा जाता है।

१० ये दोनो मनोभूमिकाए परिपक्व अभ्यास वाले योगी के होती है।

११ इनम बाह्य वस्तुआ का ग्रहण नहीं होता, इसलिए इन भूमि काआ म स्थिरता दृढ एव चिरकालीन होती है तथा सहज आनन्द का अनुभव भी विपुल होता है।

१२ इस युगल (श्लिष्ट और सुलीन) का विषय मनोगत ध्येय ही

होता है। यहां ध्येय सूक्ष्म और आत्मगत हो जाता है।

१३ जब मन बाह्य आलम्बन से शून्य होकर केवल आत्मपरिणत हो जाता है, तब उसे निरुद्ध कहा जाता है।

१४ यह भूमिका वीतराग को प्राप्त होती है।

१५ इसमें सहज आनन्द प्रकट हो जाता है।

मन की छह अवस्थाएं

मन चेतना की वह अवस्था है जो बाहरी वातावरण और वृत्तियों से प्रभावित होती है। उसकी चंचलता सहज नहीं है किन्तु बाह्य वातावरण और वृत्ति के योग से निष्पन्न है। चंचलता का मूल हेतु वृत्ति है। मनुष्य जो प्रवृत्ति करता है, वह अल्पकालिक होती है। प्रवृत्ति समाप्त हो जाती है, पीछे उसकी स्मृति रह जाती है। चंचलता का एक हेतु स्मृति है।

मनुष्य कल्पनाशील प्राणी है। वह मन ही मन भविष्य का स्वप्न संजोता रहता है। वे स्वप्न मन में चंचलता उत्पन्न करते हैं। चंचलता का एक हेतु कल्पना है।

मनुष्य इन्द्रियों के माध्यम से बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क करता है। यह बाह्य जगत् शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्शमय है। वह मन के अनुकूल और प्रतिकूल दोनों प्रकार का है। अनुकूल के प्रति आसक्ति और प्रतिकूल के प्रति द्वेष होता है। ये आसक्ति और द्वेष मन की चंचलता के वर्तमान हेतु हैं।

इस प्रकार स्मृति, कल्पना तथा आसक्ति और द्वेष—ये चारों आन्तरिक वृत्तियां मन को चंचल करती रहती हैं। मन की स्थिरता का अर्थ है स्मृति का निरोध, कल्पना का निरोध, आसक्ति का निरोध और द्वेष का निरोध।

मन की स्थिरता का अभ्यासक्रम है—स्मृति की शुद्धि, कल्पना की शुद्धि, आसक्ति की शुद्धि और द्वेष की शुद्धि।

जब आसक्ति और द्वेष तीव्रतम होते हैं तब दृष्टि और चरित्र दोनों

विकारग्रस्त हो जाते हैं। उस स्थिति में मन का क्षोभ प्रबल हो जाता है।

प्रारम्भ में मन को एक स्मृति की परम्परा में लगाने का अभ्यास किया जाए। इससे मन की गति एक प्रवाह में हो जाती है। ऊपर से ऊपर उभरने वाली स्मृतियां और कल्पनाएं रुक जाती हैं। एक स्मृति की अविच्छिन्न धारा का अभ्यास हो जाने पर फिर कुम्भक का अभ्यास किया जाए। उसमें स्मृति और कल्पना का निरोध हो जाता है। ध्येय के साथ तादात्म्य होने पर सहज ही कुम्भक हो जाता है।

अनासक्ति के लिए अनित्य और एकत्व भावना का अभ्यास किया जाता है। द्वेष निवृत्ति के लिए आत्मौपम्य की भावना या प्रेम का विकास किया जाए। इस प्रकार समुचित साधनों के द्वारा मन की चंचलता के कारणभूत तत्त्वों का निरोध किया जा सकता है।

मूढ अवस्था में आसक्ति और द्वेष बहुत प्रबल होते हैं। मूढ अवस्था का मन बाह्य जगत् और परिस्थिति का प्रतिबिम्ब लेता रहता है, इसलिए वह एकाग्र या स्थिर होने की दिशा में गति नहीं कर पाता।

मूढ अवस्था की भूमिका पार कर लेने पर व्यक्ति के मन में भीतर की ओर झांकने की भावना जागृत होती है। वह इस भावना की पूर्ति के लिए अन्तर्निरीक्षण अर्थात् ध्यान का प्रयोग प्रारम्भ करता है। किन्तु यह प्रयोग एक श्वास में ही सफल नहीं हो जाता है। इसकी सफलता के लिए उसे बहुत लम्बी साधना व प्रतीक्षा करनी पड़ती है। जब वह अन्तर्निरीक्षण का प्रारम्भ करता है, तब मन जो पहले शान्त-सा प्रतीत होता था और अधिक चंचल हो जाता है। मन को इधर उधर चक्कर लगाते देख ध्याता के मन में विस्मय उठता है कि वह ध्यान करके एक शान्त सर्प की पूंछ पर पग रख लेता है या सोये सिंह को ललकार लेता है। किन्तु यह घबराने की स्थिति नहीं है। यह मन की स्थिरता की ओर बढ़ने वाला पहला चरण है। आपने अनुभव किया होगा कि जमे हुए कूड़े-करकट के ढेर में दुर्गन्ध नहीं आती किन्तु उसे साफ करने के लिए आप खोदेंगे उस समय दुर्गन्ध फूट पड़ेगी। यह शोधन का पहला चरण है। किसी व्यक्ति

के पेट मे मल सचित है, उसे सामान्यत॰ कष्ट का अनुभव नही होता किन्तु जब वस्ति (एनीमा) के द्वारा मल का शोधन किया जाता है, तब वायु कुपित हो जाता है। पीडा भी बढ जाती है किन्तु वह प्रकोप और पीडा शोधन की प्रक्रिया का प्रथम सकेत है। ठीक इसी प्रकार ध्यान के प्रारम्भकाल मे जो मन की चचलता बढती है, वह ध्यान की दिशा मे बढने वाला पहला पग है।

प्रारम्भ मे कुछ समय तक ध्याता ध्यान करने की मुद्रा मे बैठ जाता है किन्तु अन्तर्निरीक्षण की स्थिति का उसे कोई अनुभव नही होता। किसी के यह स्थिति थोडे समय के लिए होती है और किसी-किसी के लम्बे समय तक चली जाती है। जो इस स्थिति से घबराकर अन्तर्निरीक्षण के अभ्यास को छोड देता है वह बीच मे ही रुक जाता है और जो इस स्थिति से घबराता नही है वह अगली भूमिकाओ मे पहुच जाता है।

विक्षिप्त की अगली भूमिका सन्धि की है। इस भूमिका मे ध्याता का मन अन्तर्निरीक्षण का अनुभव कर लेता है, यद्यपि वह उसमे लम्बे समय तक टिक नही पाता। अन्तर्निरीक्षण करते-करते फिर बाहर लौट आता है। फिर अन्तर्निरीक्षण का प्रयत्न करता है और फिर बाहर लौट आता है। किन्तु इस भूमिका मे एक बडा लाभ यह होता है कि अन्तर्निरीक्षण का जो द्वार बन्द था, वह खुल जाता है।

अन्तर्निरीक्षण का अभ्यास बढते-बढते मन एक विषय पर स्थिर रहने लग जाता है। इस भूमिका मे ध्येय के साथ ध्याता का श्लेष हो जाता है। जिस प्रकार गोद से दो कागज चिपक जाते है, उसी प्रकार ध्याता का ध्येय के साथ चिपकाव हो जाता है किन्तु चिपके हुए दो कागज आखिर दो ही रहते है। उनमे एकात्मकता नही होती।

स्थिरता का अभ्यास क्रमश बढता है। उसकी वृद्धि एक दिन तन्मयता या लीनता के बिन्दु तक पहुँच जाती है। यह मन की पाचवी अवस्था है। पानी दूध मे मिलकर जैसे अपना अस्तित्व खो देता है, वैसे ही इस भूमिका मे ध्याता ध्येय मे इतना तन्मय हो जाता है कि उसे अपने अस्तित्व का

फलस्वरूप उस समय हम सहज चेतना के स्तर पर नहीं होते। उस समय जो आनन्द का अनुभव होता है, वह मन की स्थिरता के कारण अन्तःस्रावी नलिकाओं से होने वाले अन्त स्राव से होता है।

चौथी और पांचवी कक्षा में विकल्पों का सिलसिला नहीं रहता। हमारा मन एक ही विकल्प पर स्थिर हो जाता है। हमारे मस्तिष्क की सुखानुभूति की ग्रन्थि तथा अन्त स्रावी नलिकाओं पर उसका अधिक प्रभाव होता है। फलस्वरूप आनन्द की अनुभूति अधिक होती है।

निरोध की कक्षा में सहज आनन्द के साथ साक्षात् सम्पर्क हो जाता है। उस पर शारीरिक परिवर्तन का प्रभाव नहीं होता, इसलिए वह चिरस्थायी होता है।

पहली कक्षाओं में सहजआनन्द की अनुभूति नहीं होती है, ऐसी बात नहीं है किन्तु उसकी पूर्ण अनुभूति निरोध की कक्षा में होती है। इसीलिए पहली कक्षाओं में शारीरिक परिवर्तन से होने वाली आनन्दानुभूति की मुख्य रूप से चर्चा की गई है। वैसे तो किसी पौद्गलिक सम्पर्क के बिना आनन्द की अनुभूति होती है, उसमें सहज आनन्द का प्रतिबिम्ब या प्रभाव रहता ही है।

१६. ज्ञान-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥

१७. श्रद्धाप्रकर्षेण ॥

१८. शिथिलीकरणेन ॥

१९. संकल्पनिरोधेन ॥

२०. ध्यानेन च ॥

२१. गुरूपदेश-प्रयत्नबाहुल्याभ्यां तदुपलब्धिः ॥

१६ आत्मज्ञान और वैराग्य से मन का निरोध होता है। आत्मज्ञान चैतन्य की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति है। जब हमारे चैतन्य का प्रवाह अन्तर्मुख होता है तब मन की कल्पनाएं और स्मृतियां निरुद्ध हो जाती हैं। इसी प्रकार वह पदार्थों व वृत्तों के प्रति अनासक्त होता है, तब उसकी चंचलता छूट जाती है।

१७ मन के निरोध का एक हेतु श्रद्धा का प्रकर्ष है। वह ध्येय के प्रति अत्यन्त निष्ठाशील व समर्पित होकर निरुद्ध हो जाता है।

आत्मज्ञान वैराग्य और श्रद्धा प्रकर्ष—मन की स्थिरता के ये तीनों हेतु आन्तरिक है।

१८ काय का शिथिलीकरण भी मन के निरोध का साधन है। काय की चंचलता मन की चंचलता को बढाती है। मन की स्थिरता के लिए शरीर की स्थिरता आवश्यक है।

१९ संकल्पो का निरोध करने से भी मन निरुद्ध होता है। मन कल्पनाओ से भरा रहता है तब क्रियात्मक शक्ति का विकास नही होता। करणीय कल्पना का मन पर भार न हो वह खाली रहे तभी उसकी शक्ति केन्द्रित होती है।

२० मनोनिरोध का सबसे बडा साधन है—ध्यान।

शिथिलीकरण संकल्प निरोध और ध्यान—मन की स्थिरता के ये तीनों हेतु अभ्यासात्मक है।

२१ गुरु के उपदेश—साधना के रहस्यो का प्रशिक्षण और श्रवण की बहुलता—बार-बार अभ्यास करने से उक्त साधनो की उपलब्धि हो जाती है।

मनोनिरोध के साधन

केशी स्वामी ने गौतम स्वामी से पूछा—यह मन एक चपल घोडा है। वह चलते-चलते उन्माद की ओर भी चला जाता है। आप उसका निग्रह कैसे करते है ?[1]

गौतम ने कहा—मैंने उस घोड़े को खुला नही छोड रखा है। उसकी लगाम मेरे हाथ म है।[2]

---

१ उत्तराध्ययन २३/५५

२ उत्तराध्ययन २३/५६

वह लगाम क्या है ? ज्ञान, बुद्धि या विवेक लगाम है। वह जिसके हाथ मे होती है, वह उस घोडे पर नियन्त्रण पा लेता है।

इस सवाद मे मन को स्थिर करने का जो उपाय बताया गया है, वह ज्ञानयोग है। यह मन के अनुशासन का प्रथम हेतु है। यह हर मनुष्य के लिए कठिन है। दूसरी बात यह है कि सबकी रुचि भी समान नही है। कोई आदमी ज्ञान-प्रधान होता है तो कोई श्रद्धा-प्रधान होता है और कोई क्रिया-प्रधान होता है।

यहा ज्ञान का अर्थ सब कुछ जानना नही है किन्तु अपने अस्तित्व की तीव्र अनुभूति है। वैराग्य उसका परिणाम है। अपने अस्तित्व के प्रति अनुराग होने का नाम ही विराग है। जब तक अपने अस्तित्व का प्रत्यक्ष अनुभव नही होता तब तक बाह्य वस्तुओ के प्रति मन मे तृष्णा रहती है। उसके द्वारा उनके प्रति अनुराग उत्पन्न होता है। आत्मानुभूति होने पर यह स्थिति उलट जाती है। अनुराग वस्तुओ से हटकर अपने प्रति हो जाता है। इसका अर्थ है कि उनके प्रति विराग हो जाता है।

सकल्प, विकल्प और इच्छा ये सब मन के कार्य हैं। बाह्य वस्तुओ के प्रति जितनी कल्पना और इच्छा होती है, मन उतना ही चचल रहता है। मन की गति को आत्मा की ओर मोड देने पर उसकी कल्पना और इच्छाशक्ति क्षीण हो जाती है। इसी को हम कहते है वैराग्य के द्वारा मन का निरोध।

वैराग्य ज्ञानयोग का ही प्रकार है। आत्मज्ञान की निर्मलता वैराग्य का रूप ले लेती है। कोई भी आदमी ऐसा नही हो सकता जो आत्मज्ञानी नही है और विरक्त है। ऐसा भी कोई आदमी नही हो सकता जो विरक्त नही है और आत्मज्ञानी है। जो आत्मज्ञानी होगा वह विरक्त होगा और जो विरक्त होगा वह आत्मज्ञानी होगा, यह निश्चित व्याप्ति है।

आत्मज्ञान के दो हेतु हैं—निसर्ग और अधिगम। कुछ लोग निसर्ग से ही आत्मज्ञानी होते है। अधिगम का अर्थ है—गुरु का उपदेश। गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान प्राप्त करने वाले नैसर्गिक आत्मज्ञानी की अपेक्षा

अधिक होते है। नैसर्गिक आत्मज्ञानी ज्ञान के द्वारा मानसिक एकाग्रता प्राप्त करते है किन्तु गुरु के उपदेश से आत्मज्ञान की दिशा म चलने वाले श्रद्धा के प्रकष से मानसिक एकाग्रता साध लेते है। श्रद्धा के प्रकष मे विश्वास केन्द्रित हो जाता है और मन की तरलता सघनता म बदल जाती है।

ज्ञान और वैराग्य चलत्य की स्वाभाविक क्रियाए है। श्रद्धा का प्रकर्ष प्रेरणा से प्राप्त किया है। मन की एकाग्रता केवल इन्ही से नही होती है। वह शरीर-सयम से भी हो सकती है। शरीर की चचलता अर्थात् मन की चचलता। शरीर की स्थिरता अर्थात् मन की स्थिरता। शरीर की स्थिरता शिथिलीकरण के द्वारा प्राप्त होती है। शिथिलीकरण की पूरी प्रक्रिया कायोत्सग के प्रकरण मे दी जाएगी।

शरीर की शिथिलता सकल्प और श्वास-सयम पर निभर है। आप पद्मासन या सुखासन मे बैठकर शरीर को ढीला छोड दीजिए और शरीर की शिथिलता का सकल्प कीजिए। शरीर शिथिल हो रहा है, ऐसा अनुभव कीजिए। अनुभव जितना तीव्र होगा उतनी ही अधिक सफलता प्राप्त होगी।

सकल्प की साधना के पश्चात् श्वास-सयम का अभ्यास कीजिए। यहाँ श्वास-सयम से मेरा अभिप्राय प्राण को सूक्ष्म करने से है। हम जो श्वास लेते हैं वह स्थूल प्राण है। श्वास लेने की जो शक्ति (श्वासोच्छवास पर्याप्ति) है वह सूक्ष्म प्राण है। नाभि और नासाग्र पर दो चार क्षण के लिए मन को एकाग्र कीजिए। सहज ही श्वास सयम हो जाएगा। श्वास की मन्दता या सूक्ष्मता से शरीर की क्रियाए सूक्ष्म हो जाती है और शिथिलीकरण सध जाता है। शरीर को स्थिरता और श्वास की स्थिरता होने पर मन का निरोध सहज सरल हो जाता है।

मन की प्रवृत्ति सकल्प और विकल्प के द्वारा चलती है। उसका निरोध होने पर मन का निरोध अपने आप हो जाता है। सकल्प निरोध और ध्यान म भिन्नता नहीं है। सकल्प का निरोध किए बिना ध्यान नही

होता और जब ध्यान होता है, तब सकल्प का निरोध होता ही है। फिर भी यहा सकल्प-निरोध को मानसिक स्थिरता का ध्यान से भिन्न साधन माना है। उसका एक विशेष हेतु है। उसके द्वारा एक विशेष प्रक्रिया का सूचन किया गया है। सकल्प का प्रवाह निरन्तर चलता रहता है। लम्बे समय तक उसे रोकने मे कठिनाई होती है। इसलिए प्रारम्भ मे उस प्रवाह की निरन्तरता मे विच्छेद डालने का अभ्यास करना चाहिए। इस प्रक्रिया को आकस्मिक कुम्भक के द्वारा सम्पन्न किया जा सकता है। आप पूरक और रेचक न करें। एक क्षण के लिए केवल कुम्भक करे, वह भी आकस्मिक ढग से। जैसे कोई बाधा आने पर चलता पैर अकस्मात् रुक जाता है, वैसे ही श्वास को हठात् बन्द कर लीजिए। क्षण-भर के लिए कुम्भक की मुद्रा मे रहिए। जिस क्षण कुम्भक होगा, उस क्षण मे सकल्प भी उसी प्रकार आकस्मिक ढग से बन्द हो जाएगा। इस क्रिया को पाच-दस मिनट के बाद फिर दोहराए। इस प्रकार बार-बार अभ्यास करने से सकल्प का प्रवाह स्खलित हो जाता है। लम्बे समय की एकाग्रता के लिए यह क्रिया पृष्ठभूमि का काम करती है।

मानसिक निरोध का प्रबलतम हेतु ध्यान है। जब हम किसी एक विषय पर स्थिर रहने का अभ्यास करते है, तब मन की चचलता को एक स्थान मे रोकने का प्रयत्न करते है। उच्छृखलता से विचरने वाली मन की चचलता का क्षेत्र सीमित हो जाता है, हजारो-हजारो विषयो से हटकर एक विषय मे सिमट जाता है, यह मन की चचलता का गतिभग है। इसकी बार-बार पुनरावृत्ति होने पर वह गतिभग गतिनिरोध के रूप मे बदल जाता है। गौतम ने पूछा—भन्ते! एक आलम्बन पर मन का सन्निवेश करने से क्या लाभ होता है? भगवान महावीर ने कहा—गौतम! उससे चित्त का निरोध हो जाता है।[1]

चित्त-निरोध की प्रक्रिया गुरु के उपदेश से प्राप्त होती है और प्रयत्न

---

१ उत्तराध्ययन २९।२६

की बहुलता से उसकी सिद्धि होती है। मन की स्थिरता जान लेने मात्र से नही होती। इसके लिए अनेक प्रयत्न करने होते हैं लम्बे समय तक निरन्तर और श्रद्धा के साथ। कोई व्यक्ति मानसिक स्थिरता का अभ्यास करता है उसमे पूरा समय नही लगाता अर्थात् तीन घटे का समय नही लगाता उसे पूर्ण सफलता प्राप्त नही होती। थोडा समय लगाने से कुछ लाभ अवश्य होता है किन्तु कोई भी आदमी स्वल्प प्रयत्न से शिखर तक नही पहुचता।

जिसका चित्त अनवस्थित होता है—कभी स्थिरता का अभ्यास करता है, कभी नही करता इस प्रकार कभी-कभी अभ्यास करने वाला भी सफलता से वचित रहता है। लम्बे समय तक और निरन्तर अभ्यास करने वाला भी श्रद्धा के बिना सफल नही हो सकता। श्रद्धा का अर्थ है तन्मय हो जाना, ध्येय के प्रति समर्पित हो जाना या उसमे विलीन हो जाना।

गुरु का उपदेश—ध्यान की प्रक्रिया की शिक्षा, श्रद्धा, दीर्घकालीन और निरन्तर अभ्यास—इस पूर्ण सामग्री के प्राप्त होने पर मानसिक एकाग्रता या निरोध की साधना सरल हो जाती है।

तीसरा प्रकरण

१. एकाग्रे मनःसन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम् ॥

१ आलम्बन पर मन को टिकाना अथवा योग (मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति) का निरोध करना ध्यान है।

ध्यान

मन की दो अवस्थाएं है—गत्यात्मक और स्थित्यात्मक। गत्यात्मक अवस्था को मन और स्थित्यात्मक अवस्था को ध्यान कहा जाता है। ध्यान करते समय मन संकल्पों से भर जाता है। एक-एक कर पुरानी स्मृतियां उभरने लग जाती है। सहज प्रश्न होता है कि इसका क्या कारण है? जब मन की प्रवृत्ति होती है तब उतनी चंचलता नहीं होती जितनी उसको स्थिर करने का प्रयत्न करने पर होती है। हम गहराई में जाएं तो पाएंगे कि चेतना चंचल नहीं होती। मन चेतना का एक अंश है। वह भला कैसे चंचल हो सकता है? वह वृत्तियों के चाप से चंचल होता है। वृत्तियों का जितना चाप होता है, उतना ही वह चंचल होता है और वृत्तियां जितनी शान्त या क्षीण होती हैं, उतना ही वह स्थिर होता है। यही ध्यान होता है। तालाब का जल स्थिर पड़ा है। उसमें एक ढेला फेंका और वह चंचल हो गया। यह चंचलता स्वाभाविक नहीं किन्तु बाह्य सम्पर्क से उत्पन्न हुई। ठीक इसी प्रकार मन की चंचलता भी स्वाभाविक नहीं किन्तु वृत्तियों के सम्पर्क से उत्पन्न होती है। मन की चंचलता एक परिणाम है। वह हेतु

नही है । उसका [illegible] है—वृत्तियों का आवरण ।

वृत्तिया दो प्रकार की होती हैं—सत् और असत् । असत् से सत् की ओर जाना पहला चरण है और दूसरा चरण है असत् को क्षीण करना । असत् मे मन चचल रहता है सत् मे शान्त और असत् को क्षीण करने पर वह अतिमात्र शान्त हो जाता है । इस सारी प्रक्रिया को मनोगुप्ति कहा जाता है । गुप्त मन की तीन अवस्थाए है

१ कल्पना विमुक्त
२ समत्व प्रतिष्ठित
३ आत्माराम

विमुक्त कल्पनाजाल समत्वे सुप्रतिष्ठितम् ।
आत्माराम मनश्चेति मनोगुप्तिस्त्रिधोदिता ।।

कल्पना विमुक्त

मन को एक साथ खाली नही किया जा सकता । उसे असत् कल्पनाओ से मुक्त करने के लिए सत् कल्पनाओं का आलम्बन लिया जाता है । इन कल्पनाओ का विशद वर्णन प्राचीन साहित्य मे मिलता है ।

कल्पना करें कि हृदय कमल है । उसके चार पत्र है । बीच मे एक कर्णिका है । चार पत्रो और कर्णिका पर क्रमश अ, सि आ उ, सा लिखा हुआ है । प्रत्येक अक्षर ज्योतिर्मय है और वह प्रदक्षिणा करता हुआ घूम रहा है । यह कल्पना पुष्ट होगी तो दूसरी कल्पनाए अपने आप विलीन हो जाएगी ।

दो नासाग्र दो आख दो कान और एक मुख—ये सात रन्ध्र है । इन पर क्रमश न मो, अ र ह, ता ण—इस मन्त्र जप के साथ ध्यान किया जाए । वर्ण और स्थान के ध्यान साथ-साथ हो । इससे मन शेष कल्पनाओ से मुक्त हो जाता है । इस प्रकार सैकडो उपाय साधना की लम्बी परम्परा म प्राप्त होते हैं ।

समत्व प्रतिष्ठित

वृत्तिया दबी रहती है । वे निमित्त का योग पाकर उत्तेजित होती है

और उधर जाती है। उसकी दूसरी अवस्था का नाम है विक्षिप्त है, विमनस्क। जब-जब मन में विमनस्कता के भाव आते हैं, मनुष्य बड़ा चंचल, अधीर और विक्षिप्त हो जाता है। अमुक व्यक्ति ने मेरा सम्मान किया है और अमुक ने अपमान। सम्मान और अपमान की स्मृति होने से मन चंचल हो उठता है। किन्तु जिसका मन सम्मान और अपमान दोनों को ग्रहण नहीं करता तथा दोनों को आत्मा से पृथक् मानता है, उसका मन समता में प्रतिष्ठित रहता है। उसे सम्मान और अपमान की स्मृति भी नहीं होती। तब वह उसके कारण चंचल, अधीर या अशान्त कैसे हो सकता है? इस प्रकार राग-द्वेष जनित जितनी विमनस्कताएं हैं, उनका ग्रहण नहीं करने वाला मन समता में प्रतिष्ठित होता है।

आत्माराम

यह शून्य मन की चौथी अवस्था है। इसमें चेतना के अतिरिक्त कोई बाह्य आलम्बन नहीं होता। मन आत्मा में विलीन हो जाता है। वह कषाय (क्रोध आदि के रंगों) से मुक्त होकर शुद्धोपयोग (शुद्ध चेतना) में परिणत हो जाता है। इस स्थिति को इन शब्दों में भी समझाया जा सकता है कि यहां शुद्ध चेतना या चैतन्य पुरुष से भिन्न मन का कोई अस्तित्व ही नहीं रहता।

संस्कृत का एक धातु है 'ध्यै चिन्तायाम्'। ध्यान शब्द इससे निष्पन्न हुआ है। इस धातु के अनुसार ध्यान शब्द का अर्थ होता है, चिन्तन।

चिन्तन का प्रवाह चंचलता की ओर जाता है और ध्यान का प्रवाह स्थिरता की ओर। इसी आधार पर ध्यान की एक परिभाषा मिलती है—'एकाग्रचिन्ता-निरोधो ध्यानम्'। एक आलम्बन पर चिन्तन को रोके रखना ध्यान है। हमारा चिन्तन अनेक विषयों पर चलता रहता है, वह ध्यान नहीं है। किन्तु वह चिन्तन एक विषय पर स्थिर हो जाता है, वह ध्यान है।

चिन्तन में एक संतति का होना आवश्यक नहीं है किन्तु ध्यान में एक संतति का होना आवश्यक ही नहीं अनिवार्य है। इसी आशय की भाषा में

रखकर ध्यान की एक परिभाषा की गई है— विषयान्तरास्पर्शवती चित्तसन्ततिर्ध्यानम् —चित्त की वह सतति (प्रवाह) जो अवलम्बित विषय के अतिरिक्त दूसरे विषयो का स्पश नही करती ध्यान कहलाती है। इससे फलित होता है कि ध्यान सामान्य चिंतन नही है किन्तु एक ही विषय पर जो चिंतन की धारा प्रवहमान होती है वह ध्यान है। जल की एक बूद गिरती है और टूट जाती है। दूसरी बूद गिरती है और फिर क्रमभग हो जाता है। इस प्रकार क्रमभग कर गिरने वाली बूदो से ध्यान की तुलना नही की जा सकती। ध्यान की तुलना उस धार से की जा सकती है, जिसमे क्रमभग नही होता।

उक्त परिभाषाओ से फलित होता है कि ध्यान स्थिरता की दिशा म बढने वाला चिंतन है। इसी आशय को एकाग्रे मन सन्निवेशन के द्वारा व्यक्त किया गया है।

प्रश्न ज्ञान और ध्यान मे क्या अन्तर है ?

उत्तर ध्यान ज्ञान की ही एक अवस्था है— व्यग्र ज्ञान एकाग्र ध्यान —जो चचल है वह ज्ञान और स्थिर ज्ञान ही ध्यान है। ध्यान शतक मे इसी आशय को स्पष्ट किया गया है—ज थिरमज्झवसाण झाण त चल तय चित्त—जो स्थिर चैतन्य है वह ध्यान है और जो चल चैतन्य है वह चित्त है। बफ को जल से भिन्न नही कहा जा सकता। जल तरल होता है तब जल कहलाता है। वही घनीभूत होकर बफ कहलाता है। ज्ञान और ध्यान की यही स्थिति है।

प्रश्न जप और ध्यान म क्या अन्तर है ?

उत्तर जप म शब्द का उच्चारण होता है। ध्यान मे शब्द का उच्चारण नही होता।

प्रश्न मानसिक जप म शब्द का उच्चारण नहीं होता, क्या वह भी ध्यान है ?

उत्तर यह ठीक है कि उसमें शब्द का उच्चारण नही होता किन्तु उसका पुनरावतन होता है। ध्यान म न शब्द का उच्चारण होता है न

पुनरावर्तन। सामान्यतया जप ध्यान नहीं है—किन्तु कभी-कभी एकाग्रता की मात्रा बढ़ जाने पर वह ध्यान से अभिन्न हो जाता है।

प्रश्न . यदि पुनरावर्तन नहीं होता तो ध्यान मे क्या किया जाता है ?

उत्तर : ध्यान मे ध्येय को देखा जाता है। वास्तव में ध्यान का चिंतन अर्थ व्युत्पत्तिलभ्य है। उसका प्रवृत्तिलभ्य अर्थ है—अन्तर्निरीक्षण, मानसिक चक्षु से देखना—साक्षात्कार करना। ध्यानकाल मे हम जिसका आलम्बन लें, वह मानसिक चक्षु से आलेखित चित्र की भाति स्पष्ट दीखने लग जाए तब ध्यान निष्पन्न होता है। हम ध्यान करने के लिए बैठते है तब किसी शब्द या आकृति का आलम्बन लेते है। आलम्बित शब्द और आकृति जब तक मानसिक चक्षु से स्पष्टत दीखने नही लग जाती तब तक धारणा की स्थिति चलती है, ध्यान की स्थिति प्राप्त नही होती। जब आलम्बित विषय साक्षात् हो जाता है तब धारणा ध्यान के बिन्दु पर पहुच जाती है।

एक आलम्बन पर मन को टिकाना ध्यान का प्रारम्भ है, पूर्णता नही। उसकी पूर्णता निरोध अवस्था मे प्राप्त होती है .

१ मन का निरोध (मन का सवर)
२ वाणी का निरोध (वाणी का सवर)
३ शरीर का निरोध (शरीर का सवर)
४ श्वास का निरोध (श्वास का सवर)

जब ये चारो निरुद्ध हो जाते है तब ध्यान की वास्तविक कक्षा प्राप्त होती है। यही जैन परिभाषा मे सवरयोग है।

प्रश्न एकाग्रता या स्थिरता और निरोध मे क्या अन्तर है ?

उत्तर . दीया हवा मे पडा है। उस समय उसकी लौ बहुत चचल होती है। उसे कमरे के भीतर निर्वात प्रदेश मे रख देने पर उसकी लौ स्थिर—शान्त हो जाती है। तेल या घी के समाप्त होने पर दीया बुझ जाता है, लौ समाप्त हो जाती है। दीए की पहली अवस्था चचल है,

दूसरी स्थिर और तीसरी निरुद्ध। चान की तुलना हवा मे रखे हुए दीए से की जा सकती है। एकाग्र-ध्यान की तुलना निष्प्रकम्प दीए से हो सकती है। निरोधात्मक ध्यान बुझे हुए दीए जैसा होता है। उसमे मन का अस्तित्व ही समाप्त हो जाता है। हमारा चैतन्य शाश्वत है। मन शाश्वत नही है। मन मन्यमान होता है अर्थात् वर्तमानकाल मे होता है। मनन से पहले क्षण म मन नही होता और उसके उत्तरक्षण मे भी मन नही होता। इसका आशय यह है कि मन मननकाल मे उत्पन्न होता है। जो उत्पन्न होता है उसके अस्तित्व का विलय भी होता है। निरोधात्मक ध्यान की प्रक्रिया यही है कि अनुत्पन्न मन को उत्पन्न नही करना। मन को उत्पन्न न करने का अर्थ है—कल्पना स्मृति और इच्छा से मुक्त हो जाना।

प्रश्न मन का निरोध निद्रा और मूर्च्छा क्या एक नही है?

उत्तर निद्रा मे मन का निरोध नही होता। उसमे स्थूल मन निष्क्रिय हो जाता है किन्तु सूक्ष्म मन (अवचेतन मन) काम करता रहता है। इसलिए निद्रा मानसिक निरोध की स्थिति नही है।

मूर्च्छा मे आत्मबोध विस्मृत होता है किन्तु मनोनिरोध की अवस्था म आत्मबोध अधिक तीव्र हो जाता है। ध्यान का अर्थ ही है—आत्मानुभूति या प्रत्यक्षानुभूति। इसलिए ध्यान और मूर्च्छा की दिशा एक नही है। मूर्च्छा म बाह्य बोध और आन्तरिक बोध दोनो के प्रति शून्यता होती है। ध्यान म बाह्य बोध के प्रति शून्यता होती है किन्तु आन्तरिक बोध अधिक जागरूक हो जाता है।

प्रश्न कायोत्सग और ध्यान मे क्या अन्तर है?

उत्तर शरीर की चचलता का विसर्जन किए बिना मन की चचलता विसर्जित नही होती। इस दृष्टि से कायोत्सग ध्यान का आधार है। कायोत्सग म शारीरिक स्थिरता की प्रधानता होती है जबकि ध्यान म मानसिक स्थिरता की।

ध्यान का एक अथ केवल स्थिरता किया गया है। उस परिभाषा क आधार पर हमारे आचार्यों ने ध्यान के तीन प्रकार बतलाए हैं

१. कायिक ध्यान—शरीर की चंचलता का विसर्जन, कायोत्सर्ग या कायगुप्ति।

२ वाचिक ध्यान—वाणी की चंचलता का विसर्जन, मौन या वचोगुप्ति।

३ मानसिक ध्यान—मन की चंचलता का विसर्जन, मनोगुप्ति।

इन भेदों के आधार पर ध्यान की परिभाषा यह हो सकती है—'कायवाङ्मनसा स्थिरीकरण ध्यानम्।' श्वास की स्थिरता शरीर की स्थिरता से सलग्न है।

प्रश्न समाधि और ध्यान में क्या अन्तर है?

उत्तर: ध्यान से मन का समाधान होता है, इसलिए ध्यान स्वयं समाधि है किन्तु परिभाषा की दृष्टि से समाधि ध्यान की उच्चतम स्थिति है। ध्यान की जिस भूमिका में मन पूर्णरूपेण निष्क्रिय हो जाता है, केवल चैतन्य का जागरण रहता है, उस स्थिति का नाम समाधि है। महर्षि पतंजलि के अनुसार वह योग का आठवां अंग है। जैन वाङ्मय के अनुसार वह ध्यान का ही एक विशिष्ट रूप है।

ध्यान की विधि

ध्यान करने से पहले शरीर को स्थिर करें। वह बिलकुल न हिले-डुले। फिर दो-तीन मिनट उसे सूचना दें कि वह शिथिल हो रहा है। फिर यह सूचना दें कि श्वास शिथिल हो रहा है। शरीर और श्वास दोनों शिथिल हो जाए तब यह सूचना दें कि मन शिथिल हो रहा है। जब मन शिथिल हो रहा हो, उस समय या तो चिंतन को सर्वथा बन्द कर दें, वैसा न कर सकें तो अर्हत्, सिद्ध आदि जो भी इष्ट हो, उस शब्द को याद कर उसके अर्थ पर मन को एकाग्र करें। जो ध्येय है, उसे प्रत्यक्ष देखने का प्रयत्न करें।

ध्यान करने वाला पूर्व या उत्तर की ओर मुह करके बैठे। आँखें या तो मुंदी हुई हों या अधखुली। वे यदि खुली हों तो मानसिक कल्पना से उन्हें वहीं नासाग्र पर केन्द्रित किया जाए।

ध्यान-काल में आसन कष्टदायी नहीं किन्तु सहज होना चाहिए। ध्यान के लिए सामान्यतः पद्मासन, पर्यंकासन, कायोत्सर्गासन आदि आसन सुझाए गए हैं। किन्तु ये ही आसन होने चाहिए ऐसा आग्रह नहीं है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है—जिस आसन में बैठने पर मन निश्चल हो वही आसन करणीय है।

येन येन सुखासीना, विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयस्यात्, मुनिभिर्बन्धुरासनम्॥ ज्ञानार्णव

ध्यान तदात्मकता

ध्यान करने वाले को तदात्मक होने का अभ्यास करना चाहिए अर्थात् जिसका ध्यान करे, उसके साथ एकात्मकता स्थापित करनी चाहिए। क्रिया के साथ भी तदात्मकता हो तो वह भी ध्यान हो जाता है। जो बोले उसमें मन का योग साथ रहे तो वह बोलना भी ध्यान है। जप, भावना या स्वाध्याय में तन्मय होने पर एकाग्रता की मात्रा ध्यान के बिन्दु तक पहुंच जाती है। उसमें वाणी का व्यापार होने पर भी एकाग्रता की उपयुक्त मात्रा के कारण वह वाचिक ध्यान कहलाता है। जो करे उसमें मन का योग साथ रहे तो वह करना भी ध्यान है। तन्मयता [redacted] जो क्रिया की जाती है वह सदा फलदायी होती है। ध्यान करने वाला ध्येय की सम्प्राप्ति के लिए अपने शरीर व मन को शून्य बना लेता है। ऐसा करने पर ध्येय और ध्याता में एकात्मकता हो जाती है। इसी को योगशास्त्र में आचार्यों ने एकीकरण, समरसी भाव, समापत्ति या समाधि कहा है।

ध्यान का फल

इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—पुराने जमाने की बात है। मगध देश में दन्तपुर नाम का नगर था। वहां [redacted] मित्र थे। एक का नाम राम था। वह बनिए का बेटा था। दूसरे का नाम नागदत्त था। [redacted] ब्राह्मण का बेटा था। उन दोनों में बहुत प्रेम था। वे सुख से रह रहे थे। एक दिन वहां राज्यविद्रोह हो गया। चारों ओर लूट मच गई। तब वे दोनों वहां से दौड़े और दक्षिणापथ की ओर चले गए। एक बार

वे दोनों काठ लाने के लिए जंगल मे गए। वहा महाबल नाम के साधु कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खडे थे। ध्यानलीन होने के कारण वे पर्वत की भाति अडोल थे। उन्होंने साधु को देखा। वह जीवन मे पहला ही अवसर था। वे उन्हे अपलक देखते रहे। थोडी देर बाद एक बडा-सा साप बिल मे से निकला और सीधा साधु के पास जा पहुचा। उन्हे डसकर वापिस बिल मे घुस गया। साधु अब भी वैसे ही खडे थे। ध्यान से जरा भी विचलित नही हुए। उनके शरीर मे विष भी नही व्यापा। राम और नागदत्त को बहुत आश्चर्य हुआ। साधु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया। वे साधु के पास गए, वन्दना की और बोले—भगवन्! साप ने आपको काटा तो आप पर असर नही हुआ? आप इस प्रकार कायोत्सर्ग मे रहते है, क्या आपको सर्दी-गर्मी से कष्ट नही होता? साधु ने कहा—महानुभावो! जो ध्यान-कोष्ठ मे स्थिर होता है, वह बाहरी स्थिति से प्रभावित नही होता। सर्दी-गर्मी आदि से बाधित नही होता, यह मेरा अनुभव है।

इस ध्यान-कोष्ठ मे शीत लहर का कोई असर नही होता और न तेज हवा से उद्वेलित अग्नि भी अपना प्रभाव दिखा पाती है। भयकर कोलाहल वहा बाधा नही डाल सकता और साप आदि विषैले जन्तु वहा पीडा उत्पन्न नही कर सकते। इन शारीरिक कष्टो की क्या बात है, वहा मानसिक कष्ट भी नही पहुच पाते है। ईर्ष्या, विषाद, शोक आदि जितने भी मानसिक कष्ट है, वे सब ध्यानलीन व्यक्ति के सामने निर्वीर्य बन जाते है।

२. ऊनोदरिका-रसपरित्यागोपवास-स्थान-मौन-प्रतिसंलीनता-स्वाध्याय-भावना-व्युत्सर्गास्तत् सामग्र्यम् ॥

३. अल्पाहार ऊनोदरिका ॥

४. दुग्धादिरसाना परिहरण रसपरित्याग ॥

५. अशनत्याग उपवासः ॥

२ ऊनोदरिका, रस-परित्याग, उपवास, स्थान—आसन, मौन, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय, भावना और व्युत्सर्ग—ये सब ध्यान के सहायक तत्त्व हैं।

ध्यान-काल में आसन कष्टदायी नहीं किन्तु सहज होना चाहिए। ध्यान के लिए सामान्यतः पद्मासन, पर्यंकासन कायोत्सर्गासन आदि आसन सुझाए गए हैं। किन्तु ये ही आसन होने चाहिए, ऐसा आग्रह नहीं है। आचार्य शुभचन्द्र ने लिखा है—जिस आसन में बैठने पर मन निश्चल हो वही आसन करणीय है।

येन येन सुखासीना, विदध्युर्निश्चलं मनः।
तत्तदेव विधेयस्यात्, मुनिभिर्बन्धुरासनम् ॥ ज्ञानार्णव

ध्यान तदात्मकता

ध्यान करने वाले को तदात्मक होने का अभ्यास डालना चाहिए अर्थात् जिसका ध्यान करे उसके साथ एकात्मकता स्थापित करनी चाहिए। क्रिया के साथ भी तदात्मकता हो तो वह भी ध्यान हो जाता है। जो बोले उसमें मन का योग साथ रहे तो वह बोलना भी ध्यान है। जप, भावना या स्वाध्याय में तन्मय होने पर एकाग्रता की मात्रा ध्यान के बिन्दु तक पहुंच जाती है। उसमें वाणी का व्यापार होने पर भी एकाग्रता की उपयुक्त मात्रा के कारण वह वाचिक ध्यान कहलाता है। जो करे उसमें मन का योग साथ रहे तो वह करना भी ध्यान है। तन्मयता से जो किया जाता है वह सद्य फलदायी होता है। ध्यान करने वाला ध्येय की सम्प्राप्ति के लिए अपने शरीर व मन को शून्य बना लेता है। ऐसा करने पर ध्येय और ध्याता में एकात्मकता हो जाती है। इसी को योगशास्त्र के आचार्यों ने एकीकरण, समरसी भाव समापत्ति या समाधि कहा है।

ध्यान का फल

इसे स्पष्ट करने के लिए एक उदाहरण प्रस्तुत है—पुराने जमाने की बात है। मगध देश में देवरापुर नाम का नगर था। वहां दो मित्र थे। एक का नाम राम था। वह बनिए का बेटा था। दूसरे का नाम नागदत्त था। वह ब्राह्मण का बेटा था। उन दोनों में बहुत प्रेम था। वे सुख से रह रहे थे। एक दिन वहां राज्यविद्रोह हो गया। चारों ओर लूट मच गई। तब वे दोनों वहां से दौड़े और दक्षिणापथ की ओर चले गए। एक बार

वे दोनों काठ लाने के लिए जंगल में गए। वहा महाबल नाम के साधु कायोत्सर्ग की मुद्रा मे खड़े थे। ध्यानलीन होने के कारण वे पर्वत की भांति अडोल थे। उन्होंने साधु को देखा। वह जीवन मे पहला ही अवसर था। वे उन्हे अपलक देखते रहे। थोडी देर बाद एक बडा-सा साप बिल में से निकला और सीधा साधु के पास जा पहुचा। उन्हे डसकर वापिस बिल में घुस गया। साधु अब भी वैसे ही खड़े थे। ध्यान से जरा भी विचलित नही हुए। उनके शरीर मे विष भी नही व्यापा। राम और नागदत्त को बहुत आश्चर्य हुआ। साधु ने कायोत्सर्ग पूर्ण किया। वे साधु के पास गए, वन्दना की और बोले—भगवन्! साप ने आपको काटा तो आप पर असर नही हुआ? आप इस प्रकार कायोत्सर्ग में रहते हैं, क्या आपको सर्दी-गर्मी से कष्ट नही होता? साधु ने कहा—महानुभावो! जो ध्यान-कोष्ठ मे स्थिर होता है, वह बाहरी स्थिति से प्रभावित नही होता। सर्दी-गर्मी आदि से बाधित नही होता, यह मेरा अनुभव है।

इस ध्यान-कोष्ठ मे शीत लहर का कोई असर नही होता और न तेज हवा से उद्वेलित अग्नि भी अपना प्रभाव दिखा पाती है। भयकर कोलाहल वहा बाधा नही डाल सकता और साप आदि विषैले जन्तु वहा पीडा उत्पन्न नही कर सकते। इन शारीरिक कष्टो की क्या बात है, वहा मानसिक कष्ट भी नही पहुच पाते है। ईर्ष्या, विषाद शोक आदि जितने भी मानसिक कष्ट है, वे सब ध्यानलीन व्यक्ति के सामने निर्वीर्य बन जाते हैं।

२. ऊनोदरिका-रसपरित्यागोपवास-स्थान-मौन-प्रतिसंलीनता-स्वाध्याय-भावना-व्युत्सर्गास्तत् सामग्र्यम् ॥

३. अल्पाहार ऊनोदरिका ॥

४. दुग्धादिरसानां परिहरणं रसपरित्यागः ॥

५. अशनत्याग उपवासः ॥

२ ऊनोदरिका, रस-परित्याग, उपवास, स्थान—आसन, मौन, प्रतिसंलीनता, स्वाध्याय, भावना और व्युत्सर्ग—ये सब ध्यान के सहायक तत्त्व हैं।

का विधान है, उस स्थिति मे रस-परित्याग कैसे आवश्यक हो सकता है ?

उत्तर ध्यान के लिए वीर्य-शुद्धि या ब्रह्मचर्य बहुत आवश्यक है। दूध, घी आदि रसो का प्रचुर सेवन करने से वीर्य पर्याप्त मात्रा मे बढता है। वह काम-वासना को उत्तेजित करता है। उससे मानसिक चचलता बढती है और वीर्य-दोष उत्पन्न होते हैं। यदि वीर्य सचित रहता है तो मन की चचलता बनी रहती है और यदि उसका विसर्जन किया जाता है उससे स्नायविक दुर्बलता बढती है। स्नायविक दुर्बलता वाले व्यक्ति के मन का सन्तुलन नही हो सकता। मानसिक सन्तुलन के अभाव मे ध्यान की कल्पना ही नही की जा सकती इसीलिए रसो का प्रचुर मात्रा मे सेवन करना ध्यानाभ्यासी के लिए हितकर नही है।

रस-परित्याग का सम्बन्ध अस्वादवृत्ति से है। जिसका मन स्वाद-लोलुपता मे अटका रहता है उसके लिए ध्यान करना बहुत कठिन है। ध्यानाभ्यास के लिए वैषयिक अनुबन्धो से मुक्त होना बहुत आवश्यक है। वैषयिक अनुबन्धो मे स्वाद का अनुबन्ध बहुत तीव्र होता है। उसके परिणामो पर विचार करने पर ध्यान और यथावकाश रस-परित्याग का सम्बन्धबोध सहज ही हो जाता है।

रस-परित्याग की निश्चित मर्यादा करना कठिन है। फिर भी उसके विषय मे कुछ रेखाए खीनी जा सकती है :

१ ध्यानाभ्यासी के लिए दही खाना उचित नही है। उससे शारीरिक और बौद्धिक जडता उत्पन्न होती है।

२ तली हुई चीजो से पाचन पर अनावश्यक भार पडता है, इसमे वे भी हितकर नहीं है।

३ चीनी से अम्लता बढती है और रक्त मे गर्मी बढने के कारण कुछ उत्तेजना भी बढती है। इसलिए चीनी का सयत और नियमित प्रयोग ही हितकर हो सकता है।

४ दूध दिन-भर मे पाव या आधा सेर लिया जा सकता है किन्तु मस्तिष्क सम्बन्धी कार्य के लिए उससे निष्पन्न होने वाली शक्ति की

व्यपत हो तो।

५ वायु और चित्त के शमन के लिए एक या दो तोला घी लिया जा सकता है किन्तु उसकी अधिक मात्रा अपेक्षित नहीं है। घी सर्वाधिक वीर्यवर्धक वस्तु है। उसके अधिक सेवन का अर्थ है—अधिक वीर्य की उत्पत्ति और वीर्य के अधिक होने का अर्थ है वासना को उभारना। यह स्थिति ध्यान के लिए अनुकूल नहीं है।

जैन साधना-पद्धति में दीर्घकालीन ध्यान को बहुत महत्त्व दिया गया है। तीन घटा ध्यान करना ध्यान की सामान्य काल मर्यादा है। उसकी दीर्घकालीन मर्यादा है—कई दिनों या महीनों तक लगातार ध्यान करना। भगवान् महावीर ने सोलह दिन रात तक निरन्तर ध्यान किया था। इस प्रकार का ध्यान वही व्यक्ति कर सकता है जो भूख पर विजय पा लेता है।

केवल भूखा रहना अनशन नहीं है किन्तु ध्यान की साधना के लिए भूख पर विजय पा लेना अनशन है। यह शरीर को कष्ट देने की स्थिति नहीं है किन्तु आत्मानुभूति की गहराई में पैठकर सहज आनन्द का स्पर्श करने की स्थिति है।

भूखा रहने से शरीर और मानसिक ग्लानि न हो स्वाध्याय और ध्यान म विघ्न न आए तब तक उपवास किए जा सकते है। यही उपवास की मर्यादा है। सबकी शक्ति समान नहीं होती इसलिए उसकी मर्यादा भी भिन्न भिन्न होती है। दीर्घकालीन ध्यान के लिए उपवास करना स्वतः प्राप्त है अतः अनशन ध्यान को विशिष्ट साधना का सहायक तत्त्व है।

६ शरीरस्य स्थिरत्वापादन स्थानम् ॥

७ ऊर्ध्व निषीदन-शयनभेदात् त्रिधा ॥

८ समपाद एकपाद गृध्रोड्डीन-कायोत्सर्गादीनि ऊर्ध्वस्थानम् ॥

९ गोदोहिका उत्कटुक समपादपुता योनिपदिका हस्तिशुण्डिका-पद्म वीर-सुख - कुक्कुट सिद्ध भद्र-वज्र - मत्स्येन्द्र पश्चिमोत्तान-महामुद्रा सम्प्रसारणभूनमन कन्दपीडनादीनि निषीदनस्थानम् ॥

१०. दण्डायत-आम्रकुब्जिका-उत्तान-अवमस्तक-एकपार्श्व-ऊर्ध्वशयन-लकुट-मत्स्य-पवनमुक्त-भुजंग-धनुरादीनि शयनस्थानम् ॥

११. सर्वांग-शीर्षादीनि-विपरीतक्रियापादकानि ॥

६. विधिवत् शरीर को स्थिर बनाकर बैठना स्थान-आसन कहलाता है। यह कायगुप्ति है।

७ स्थान तीन प्रकार के होते हैं -

१ ऊर्ध्व-स्थान
२ निषीदन-स्थान
३ शयन-स्थान

८ खड़े होकर किए जाने वाले स्थानों का नाम 'ऊर्ध्व-स्थान' है। उसके कुछ प्रकार ये हैं :

१. समपाद	३ गृध्रोड्डीन
२ एकपाद	४. कायोत्सर्ग

९ बैठकर किए जाने वाले स्थानों का नाम 'निषीदन-स्थान' है। उसके कुछ प्रकार हैं

१. गोदोहिका	९ कुक्कुटासन
२. उत्कटुकासन	१०. सिद्धासन
३. समपादपुता	११ भद्रासन
४ गोनिषधिका	१२. वज्रासन
५. हस्तिशुण्डिका	१३ मत्स्येन्द्रासन
६ पद्मासन	१४ पश्चिमोत्तानासन
७ वीरासन	१५ महामुद्रा
८ सुखासन	१६ सप्रसारणभूनमनासन

१७ कन्दपीडनासन

१० लेटकर किए जाने वाले स्थानों का नाम 'शयन-स्थान' है। उसके कुछ प्रकार ये हैं -

१ दण्डायतशयन ६ ऊर्ध्वशयन
२ लगण्डशयन/आकुञ्चिकाशयन ७ लकुटासन
३ उत्तानशयन ८ मत्स्यासन
४ अवमस्तकशयन ९ पवनमुक्तासन
५ एकपार्श्वशयन १० भुजंगासन
११ धनुरासन

११ सर्वांगासन और शीर्षासन ये विपरीतकरणी वाले स्थान हैं।

ध्यान और आसन

आसन साधना का एक अपरिहार्य अंग है। आचार्य कुन्दकुन्द का अभिमत है कि जो व्यक्ति आहार विजय निद्रा विजय और आसन विजय को नहीं जानता वह जिनशासन को नहीं जानता। आसन विजय का अर्थ है—एक आसन में घंटों तक बैठने का अभ्यास कर लेना।

महर्षि पतंजलि का अभिमत है कि आसन से द्वन्द्व पर विजय प्राप्त की जा सकती है। द्वन्द्व है—सर्दी गर्मी आदि। आसन से कष्ट-सहिष्णुता की शक्ति विकसित होती है इसलिए द्वन्द्व आसनकर्त्ता को पराजित नहीं कर सकते।

आसन के वर्ग

अपेक्षाभेद से आसनों के दो वर्ग होते हैं

प्रथम वर्ग—(१) खड़े होकर किए जाने वाले
(२) बैठकर किए जाने वाले
(३) लेटकर किए जाने वाले

द्वितीय वर्ग—(१) शरीरासन
(२) ध्यानासन

खड़े होकर किए जाने वाले आसन

समपाद

विधि—सीधे खड़े हो जाइए। गर्दन, पृष्ठवंश और पैर तक का सारा

शरीर सीधा और समरेखा में रहे, उसका अभ्यास कीजिए। आप दोनों पैरों को सटाकर रखिए।

समय—कम से कम तीन मिनट और सुविधानुसार घंटा भर किया जा सकता है।

फल—१ शारीरिक धातुओं का साम्य।
 २ शुद्ध रक्त का संचार।
 ३ मानसिक एकाग्रता

एकपाद

विधि—सीधे खड़े हो जाइए। उक्त विधि के अनुसार शरीर के सब अवयवों को समरेखा में ले आइए। फिर एक पैर को उठाकर सीधा फैला दीजिए। प्रारम्भ में ऐसा करना कठिन होता है, इसलिए दीवार के सहारे खड़े होकर भी यह आसन किया जा सकता है।

समय—प्रारम्भ में एक या दो मिनट। अभ्यास परिपक्व होने पर सुविधानुसार जितना किया जा सके।

फल—पैर, कमर, जंघा, पीठ और गर्दन के स्नायुओं की शुद्धि।

गृध्रोड्डीन

विधि—पैरों को सटाकर सीधे खड़े हो जाइए। फिर कन्धों की समरेखा में दोनों हाथों को फैला दीजिए। बीच-बीच में गीध के परों की भांति दोनों भुजाओं को हिलाइए।

समय—इसके समय की निश्चित मर्यादा नहीं है। सुविधानुसार जितना किया जा सके उतने समय तक यह करणीय है।

फल—१. भुजा के स्नायुओं की शक्ति का विकास।
 २. गर्दन से ऊपर के स्नायुओं की पुष्टि।

कायोत्सर्ग

प्रवृत्ति के तीन स्रोत हैं—काय, वाणी और मन। इनमें मुख्य काय है। वाणी और मन उसके माध्यम से ही प्रवृत्त होते हैं। काय के स्पन्दन से वाणी और मन स्पन्दित होते हैं। इसकी अस्पन्द-दशा में वे किसी

जाते हैं। भाषा और मन के परमाणुओं का ग्रहण काय के द्वारा होता है। फिर उनका भाषा और मन के रूप मे परिणमन होता है और विसर्जन-काल मे वे भाषा और मन कहलाते हैं। भाष्यमाणी भाषा होती [illegible] पहले-पीछे नही होती इसी प्रकार मन्यमान मन होता है, पहले पीछे नही होता।

काय वाणी और मन की प्रवृत्ति का स्रोत [illegible] इसीलिए उसकी निवृत्ति या स्थिरता वाणी और मन की स्थिरता का आधार बनती है। काय का त्याग होने पर वाणी और मन स्वय त्यक्त हो जाते है।

शरीरशास्त्र की दृष्टि से शरीर की प्रवृत्ति और निवृत्ति के परिणाम इस प्रकार है

प्रवृत्ति (श्रम) के परिणाम

१ स्नायुओ मे स्नायु शर्करा कम होती है।
२ लैक्टिक एसिड स्नायुओ मे जमा होता है।
३ लैक्टिक एसिड की वृद्धि होने पर उष्णता बढ़ती है।
४ स्नायु-तत्र मे थकान आती है।
५ रक्त म प्राणवायु की मात्रा कम होती है।

निवृत्ति (आराम) के परिणाम

१ लैक्टिक एसिड का पुन: स्नायु शर्करा मे परिवर्तन होता है।
२ लैक्टिक एसिड का जमाव कम होता है।
३ लैक्टिक एसिड की कमी से उष्णता मे कमी होती है।
४ स्नायुतत्र मे ताजगी आती है।
५ रक्त म प्राणवायु की मात्रा बढ़ती है।

स्वास्थ्य की दृष्टि से भी कायोत्सर्ग कम महत्त्वपूर्ण नही है।

स्नायविक तनाव और कायोत्सर्ग

मन मस्तिष्क और शरीर मे गहरा सम्बन्ध है। उनकी सामञ्जस्य विहीन गति से जो अवस्था उत्पन्न होती [illegible] वही स्नायविक तनाव है। शरीर और मन की सक्रियता का सन्तुलन रहना प्रवृत्ति की बहुलता या सकुलता मानसिक आवेग—ये उसके मुख्य कारण हैं। हम जब-जब द्रव्य

क्रिया करते है अर्थात् शरीर को किसी दूसरे काम मे लगाते है और मन कही दूसरी ओर भटकता है, तब स्नायविक तनाव बढता है। हम भाव-क्रिया करना सीख जाए—शरीर और मन को एक ही काम मे सलग्न करने का अभ्यास कर लें तो स्नायविक तनाव बढने का अवसर ही न मिले।

जो लोग इस स्नायविक तनाव के शिकार होते है, वे शारीरिक और मानसिक स्वास्थ्य से वचित रहते है। वे लोग अधिक भाग्यशाली हैं, जो इस तनाव से मुक्त रहते हैं।

तनाव उत्पन्न करने मे भय का भी बडा हाथ है। अध्यात्मवादियो ने उसके सात प्रकार बतलाए है

१ इहलोक भय—मनुष्य को अपनी ही जाति—मनुष्य से होने वाला भय।
२ परलोक भय—मनुष्य को विजातीय—पशु आदि से होने वाला भय।
३ आदान भय—धन-विनाश का भय।
४ अकस्मात् भय—काल्पनिक भय।
५ आजीविका भय—आजीविका कैसे चलेगी—इस प्रकार का भय।
६ मरण भय—मृत्यु का भय।
७ अश्लाघा भय—अपयश का भय।

ये भय मनुष्य के जीवन मे व्याप्त रहते है। इनके द्वारा वह स्नायविक तनाव से बुरी तरह आक्रान्त होकर अशान्तिमय जीवन जीता है। जिसने अभय की आराधना की है, उसे कोई कष्ट नही होता। भयभीत व्यक्ति पल-पल मे कष्ट पाता है। जिसने अभय की आराधना की है, वह जीवन मे एक बार मरता है। भयभीत मनुष्य एक दिन मे कई बार मरता है। भय और हिंसा मे गहरा लगाव है। जहा भय है, वहा निश्चित रूप से हिंसा है। मन को अभय किए विना अहिंसा हो ही नही सकती।

अनियंत्रित भय से अनेक रोग उत्पन्न होते हैं। मनोविज्ञान का सिद्धान्त है कि वियोग का भय जागृत होने पर मनुष्य स्नायु विकार से ग्रस्त हो जाता है। वह दूसरों पर अत्याचार करने व उन्हें अपंग बनाने में रस लेता है।

येल विश्वविद्यालय ने भय से सम्बन्धित कुछ निष्कर्ष प्रस्तुत किए थे। उन्हें पढ़कर हम समझ सकते हैं कि भय हमारे शरीर और मन को कितना प्रभावित करता है। भय से ये शारीरिक परिवर्तन देखे जाते हैं—दिल का धड़कना, नाड़ी का तेज चलना, मुंह या गला सूखना, कांपना, हथेलियों में पसीना आना और पेट का अन्दर धसना। मन पर भी गहरी प्रतिक्रियाएं होती हैं। जैसे—विस्मृति, मूर्च्छा और पीड़ा की तीव्र अनुभूति होना।

स्थानांग सूत्र में असामयिक मृत्यु के सात कारण बतलाए गए हैं। उनमें भयात्मक अध्यवसाय उसका एक कारण है।

रोग के भय से पीड़ा बढ़ जाती है। निर्भय रोगी की अपेक्षा भयाक्रान्त रोगी को पीड़ा की अनुभूति कई गुना अधिक होती है। मानसोपचारकों ने रोग-पीड़ित व्यक्तियों पर शिथिलीकरण के प्रयोग किए। उनसे उनकी पीड़ा में बहुत अन्तर आया। भय से स्नायविक तनाव बढ़ता है। उससे पीड़ा तीव्र हो जाती है और कायोत्सर्ग से वह कम होता है तब पीड़ा भी कम हो जाती है।

क्रोध, अभिमान, माया, लोभ, राग, द्वेष, घृणा, शोक आदि मानसिक आवेगों से भी स्नायविक तनाव बढ़ता है। कायोत्सर्ग से उन आवेगों का शमन होता है और फलतः स्नायविक तनाव अपने आप दूर हो जाता है।

कायोत्सर्ग की विधि

कायोत्सर्ग बैठी, खड़ी और सोयी—तीनों मुद्राओं में किया जा सकता है। इसकी पहली प्रक्रिया शिथिलीकरण है। यदि आप बैठे-बैठे कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो सुखासन या पद्मासन लगाकर या पालथी बांधकर बैठ जाइए। दोनों हाथों को या तो घुटनों पर टिकाइए या बायीं हथेली पर दायीं हथेली रखकर उन्हें अंक में रखिए। फिर पृष्ठवंश (रीढ़ की

हड्डी) और गर्दन को सीधा कीजिए। यह ध्यान रहे कि उनमें न झुकाव हो और न तनाव हो। वे शिथिल भी रहें और सीधे सरल भी। फिर दीर्घ श्वास लीजिए। श्वास को उतना लम्बाइए जितना बिना किसी कष्ट के लम्बा सकें। इससे शरीर और मन दोनो के शिथिलीकरण में बडा सहारा मिलेगा। आठ-दस बार दीर्घश्वास लेने के बाद यह क्रम सहज हो जाएगा। फिर शिथिलीकरण मे मन को लगाइए। स्थिर बैठने से कुछ-कुछ शिथिलीकरण तो अपने आप हो जाता है। फिर विचारधारा द्वारा प्रत्येक अवयव को शिथिल कीजिए। मन को उसी अवयव में टिकाइए, जिसे आप शिथिल कर रहे है। अवयवो को शिथिल करने का क्रम यह रखिए—गर्दन, कन्धा, छाती, पेट—दाए-बाए, पृष्ठभाग, भुजा, हाथ, हथेली, अगुली, कटि, टाग, पैर-अगुली। फिर मासपेशियो को शिथिल कीजिए। मन से शरीर के भाग और मासपेशियो का अवलोकन कीजिए। इस प्रकार अवयवो और मासपेशियो के शिथिलन के बाद स्थूल शरीर से सम्बन्ध-विच्छेद और सूक्ष्म शरीर से दृढ सम्बन्ध-स्थापन का ध्यान कीजिए—

सूक्ष्म शरीर दो है :

१ तैजस
२ कार्मण

तैजस शरीर विद्युत् का शरीर है। उसके साथ सम्बन्ध स्थापित कर प्रकाश का अनुभव कीजिए। शक्ति और दीप्ति की प्राप्ति का यह प्रबल माध्यम है।

कार्मण शरीर के साथ सम्बन्ध स्थापित कर भेद-विज्ञान का अभ्यास कीजिए।

इस भूमिका मे ममत्व-विसर्जन हो जाएगा। शरीर मेरा है—यह मानसिक भ्रान्ति विसर्जित हो जाएगी।

यदि आप खड़ी मुद्रा मे कायोत्सर्ग करना चाहते है तो सीधे खडे हो जाइए। दोनों हाथो को घुटनों की ओर लटकाकर उन्हे ढीला छोड़िए। पैरों को समरेखा मे रखिए और दोनो पजो मे चार

अन्तर रखिए। शेष सारे अगों को स्थिर रखिए और शिथिल कीजिए। किसी भी अग में तनाव मत रखिए।

यदि आप सोयी मुद्रा मे कायोत्सर्ग करना चाहते हैं तो सीधे लेट जाइए। सिर से लेकर पैर तक के अवयवो को पहले तानिए, फिर क्रमश इन्हे शिथिल कीजिए। हाथों और पैरो को परस्पर सटाए हुए मत रखिए। श्वास-उच्छ्‌वास समभाव से किन्तु लम्बा लीजिए। मन को श्वास उच्छ्‌वास मे लगाकर एकाग्र या विचारशून्य हो जाइए।

मन को शान्त व स्थिर करने के लिए शरीर को शिथिल करना बहुत आवश्यक है। प्रयत्न से चचलता बढती है। स्थिरता अप्रयत्न से आती है। शरीर उतना शिथिल होना चाहिए जितना किया जा सके। वह प्रतिदिन आधा घटा शिथिल हो सके तो मन अपने आप शान्त होने लगता है। शिथिलीकरण के समय मन पूरा खाली रहे कोई चिन्तन न हो जप भी न हो। यदि न हो सके तो ॐ अहम् जैसे किसी शब्द का ऐसा प्रवाह हो कि बीच मे कोई दूसरा विकल्प न आए। श्वास की गिनती करने से यह स्थिति सहज ही बन जाती है।

कायोत्सर्ग के प्रारम्भ म इन सकल्पो को दोहराइए

१ शरीर शिथिल हो रहा है।
२ श्वास शिथिल हो रहा है।
३ स्थूल शरीर का विसर्जन हो रहा है।
४ तैजस शरीर प्रदीप्त हो रहा है।
५ कार्मण शरीर (वासना शरीर) भिन्न हो रहा है।
६ ममत्व विसर्जन हो रहा है।
७ मैं आत्मस्थ हो रहा हू।

कायोत्सर्ग का कालमान

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया कष्टप्रद नही है। उससे शारीरिक विश्रान्ति और मानसिक शान्ति प्राप्त होती है। इसलिए वह चाहे जितने लम्बे समय तक किया जा सकता है। कम से कम पन्द्रह-बीस मिनट तो करना ही

चाहिए। कायोत्सर्ग मे मन को श्वास मे लगाया जाता है, इसलिए उसका कालमान श्वास की गिनती से भी किया जा सकता है, जैसे सौ श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग, दो सौ, तीन सौ, पाच सौ, हजार श्वासोच्छ्वास का कायोत्सर्ग आदि-आदि।

कायोत्सर्ग का फल

कायोत्सर्ग का मुख्य फल है—आत्मा का सान्निध्य प्राप्त करना। उसका गौण फल है—मानसिक सन्तुलन, बौद्धिक विकास और शारीरिक स्वच्छता। मानसिक स्वच्छता, स्नायु-तनाव व कफ से उत्पन्न रोगो के लिए यह अमूल्य रसायन है।

आचार्य भद्रबाहु ने कायोत्सर्ग के पाच फल बताए है

१. दैहिक जडता की शुद्धि—श्लेष्म आदि के द्वारा देह मे जडता आती है। कायोत्सर्ग से श्लेष्म आदि के दोष मिट जाते है। अत उनसे उत्पन्न होनेवाली जडता भी नष्ट हो जाती है।
२ बौद्धिक जडता की शुद्धि—कायोत्सर्ग मे चित्त एकाग्र होता है। उससे बौद्धिक जडता नष्ट हो जाती है।
३ सुख-दु ख तितिक्षा—सुख-दु ख सहने की शक्ति प्राप्त होती है।
४ शुद्ध भावना का अभ्यास होता है।
५ ध्यान की योग्यता प्राप्त होती है।

बैठकर किए जाने वाले आसन

गोदोहिका

विधि—घुटनो को ऊचा रखकर पजो के बल पर बैठ जाइए। दोनो हाथो को दोनो ऊरुओ (सायलो) पर टिका दीजिए। यह गाय को दोहने की मुद्रा है, इसलिए इसका नाम गोदोहिका है।

समय—दीर्घकाल

फल—१ कामवाहिनी नाडियो पर दबाव पडने के कारण यह ब्रह्मचर्य मे सहायक होता है।

भगवान् महावीर इस आसन मे ध्यान किया करते थे।

उत्कटुकासन

विधि—दोनो पैरों को भूमि पर टिका दीजिए और दोनो पुतो को भूमि से न छुआते हुए जमीन पर बैठ जाइए।

समय—दीर्घकाल।

फल—१ ब्रह्मचर्य मे सहायक।

२ इसमे बैठे बैठे पवनमुक्तासन की क्रिया हो जाती है, इसलिए यह वातरोग मे भी लाभ पहुचाता है।

समपादपुता

विधि—दोनो पैरो और पुतो को समरेखा मे भूमि से सटाकर बैठ जाइए।

समय—दीर्घकाल।

फल—१ ब्रह्मचर्य मे सहायक।

२ वातरोग मे लाभकारी।

गोनिषधिका

विधि—बाए पैर की एडी को ऊरु से सटाकर बैठ जाइए और दाए पैर को उससे कुछ नीचे रखकर उसे मोडते हुए पीछे की ओर ले जाइए। दूसरी आवृत्ति मे दाए पैर की एडी को ऊरु से सटाकर बैठ जाइए और बाए पैर को उससे कुछ नीचे रखकर उसे मोडते हुए पीछे की ओर ले जाइए। यह गाय के बैठने का आसन है, इसलिए इसे गोनिषधिका कहा जाता है।

समय—दीर्घकाल।

फल—१ ब्रह्मचर्य मे सहायक।

हस्तिशुण्डिका

विधि—पुतों के सहारे बैठकर क्रमश एक-एक पैर को ऊपर उठाकर अधर मे रखिए।

समय—एक मिनट से पाच मिनट तक।

फल—१. कटिभाग से नीचे के अवयवो मे शक्ति का सचार होता है।

२ वीर्य-दोष नष्ट होते है।

कुछ योगाचार्य इसे खडा होकर किया जाने वाला आसन मानते है। उसकी प्रक्रिया यह है

विधि—सीधे खडे रहिए। सिर को घुटनो की ओर नीचे ले जाइए। दोनो हाथ जोडकर हाथी की सूड की भाति दोनो पैरो के बीच से जितना ले जा सके, ले जाए।

समय—एक से पाच मिनट तक।

फल—पेट, पीठ, छाती, ग्रीवा और पैरो के विकार दूर होते है।

पद्मासन

विधि—पहले बाए पैर को दाए ऊरु और जघा की सन्धि पर और दाए पैर को बाए उरु और जघा की सन्धि पर रखिए। फिर दूसरी विधि के अनुसार पहले दाया पैर और फिर बाया पैर उसी पद्धति से रखिए। बायी हथेली पर दायी हथेली रखकर उन्हे नाभि के नीचे रखिए। इस स्थिति मे बैठने पर पृष्ठ रज्जु और गर्दन अपने आप सीधे हो जाते है। आखो को मुदी हुई या अधमुदी हुई रखिए।

समय—अभ्यास करते-करते इसे तीन घटे तक ले जाइए। यह उससे भी अधिक समय तक किया जा सकता है किन्तु तीन घटे का अभ्यास कर लेने पर यह सध जाता है।

फल—१ यह मुख्यतः ध्यानासन है। इससे शारीरिक धातुए सम होती है, इसलिए यह मन की एकाग्रता मे सहायक बनता है।

२ जघा, ऊरु आदि के स्नायु सशक्त होते है।

३ इन्द्रिय-विजय मे सहायता मिलती है।

पद्मासन के विविध रूप

१ बद्धपद्मासन

विधि—दाए पैर को बाए ऊरु और बाए पैर को दाए ऊरु पर

४. अर्धपद्मासन

विधि—बाएं या दाएं किसी एक पैर को पद्मासन की मुद्रा में रखने से अर्धपद्मासन हो जाता है।

समय—पद्मासन की तरह।

फल—पद्मासन की तरह।

५. ऊर्ध्व पद्मासन

विधि—सर्वांगासन या शीर्षासन के साथ पद्मासन करने से ऊर्ध्व पद्मासन हो जाता है।

समय—अभ्यास करते हुए आधा घटा तक।

फल—१ वीर्य का ऊर्ध्वीकरण।
२ मन की एकाग्रता।

६. उत्थित पद्मासन

विधि—पद्मासन में बैठकर दोनों हथेलियों को भूमि पर टिकाइए और शरीर को भूमि से ऊपर उठाइए।

समय—दो-तीन मिनट।

फल—१ पद्मासन के लाभ।
२ हथेली के स्नायुओं की सशक्तता।

इसे दोलासन या लोलासन भी कहा जाता है। कुछ आचार्यों ने पद्मासन को पर्यंकासन और अर्धपद्मासन को अर्धपर्यंकासन माना है।

वीरासन

विधि—बद्ध पद्मासन की तरह दोनों पैरों को रखिए और हाथों को पद्मासन की तरह रखिए।

समय—क्रमशः तीन घटा तक बढ़ाएं।

फल—१ धैर्य, सतुलन और कष्ट सहने की क्षमता का विकास।

कुछ आचार्यों ने कुर्सी पर बैठकर उसे निकाल देने पर जो मुद्रा बनती है, उसे वीरासन माना है।

सुखासन

विधि—किसी एक पैर को वृषण के पास ऊरु के निम्नवर्ती भाग से सटाकर बैठिए और दूसरे पैर को जंघा और ऊरु के बीच में रखिए। दूसरी बार में पैरों का क्रम बदल दीजिए।

समय—यह ध्यानासन है, इसलिए चाहे जितने समय तक किया जा सकता है।

फल—१ कामवाहिनी नाड़ी पर नियन्त्रण।

कुक्कुटासन

विधि—पद्मासन में बैठकर ऊरु और जंघा के बीच में दोनों हाथों को कोहनी तक नीचे ले जाइए और हथेलियों को भूमि पर टिका दीजिए तथा उनके बल पर सारे शरीर को ऊपर उठाइए।

समय—एक मिनट से पांच मिनट तक।

फल—१ स्नायविक दुर्बलता के कारण उत्पन्न होने वाला क्रोध और मोह का विकार नष्ट होता है।

२ स्नायु पुष्ट होते हैं।

३ मन शक्तिशाली और प्रशान्त होता है।

४ कामवासना पर विजय प्राप्त होती है।

सिद्धासन

विधि—बाएं पैर की एड़ी को गुदा और सीवन के बीच में रखिए और दाएं पैर की एड़ी को इन्द्रिय के ऊपर स्थापित कीजिए। हाथों की मुद्रा पद्मासन की भांति कीजिए।

समय—एक मिनट से तीन घंटा।

फल—१ वीर्य शुद्धि।

भद्रासन

विधि—दोनों पैरों को सामने फैलाकर बैठिए। बाद में पैरों के तलों को संपुटित कीजिए—परस्पर मिलाइए। फिर उन्हें उपस्थ के समीप रखिए जिससे पैरों के अंगूठे भूमि पर और एड़ियां नाभि के समीप आ

जाए। फिर पैरों को धीमे-धीमे घुमाइए जिससे पैरों की अंगुलियां नितम्बों के नीचे चली जाएं और एड़ियां वृषण-संधियों के नीचे नाभि की ओर दीखें। दोनों हथेलियों को घुटनों पर टिकाइए।

समय—पांच मिनट से आधा घंटा।

फल—१ काम करने की शक्ति उत्पन्न होती है।

वज्रासन

विधि—घुटनों को मोड़कर पीछे की ओर ले जाइए, जिससे दोनों ऊरु और जघाएं ऊपर-नीचे हो जाएं। घुटने से अंगुलियों तक का भाग जमीन को छूते हुए रहना चाहिए।

समय—दस-पन्द्रह मिनट किए बिना उसका परिणाम प्राप्त नहीं होता। विशेष लाभ के लिए इसे लम्बे समय तक करना चाहिए।

फल—१ भोजन के पश्चात् पन्द्रह मिनट तक वज्रासन करने से पाचन-शक्ति बढ़ती है।

२. अपानवायु की शुद्धि।

३ वीर्य-दोष की शुद्धि।

४ घुटनों और पैरों के स्नायुओं की सशक्तता।

मत्स्येन्द्रासन

विधि—बाएं पैर का पंजा दाएं ऊरु के मूल में रखिए और एड़ी को पेडू से सटाइए। फिर दाएं पैर को बाएं घुटने के आगे लगाइए। बाएं हाथ को दाएं घुटने के ऊपर से ले जाकर अंगुलियों से उसका अंगूठा पकड़िए। दाएं हाथ को पीठ की ओर ले जाकर उससे बाएं पैर की एड़ी पकड़िए। मुंह और पीठ के भाग को जितना मोड़ सकें, उतना पीछे की ओर ले जाइए। धीमे-धीमे श्वास लीजिए। दूसरी आवृत्ति में पैरों और हाथों का क्रम बदल दीजिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—१ पृष्ठरज्जु के स्नायुओं की शुद्धि।

अर्धमत्स्येन्द्रासन

जब बाए पैर की एडी को गुदा और सीवन के बीच मे रखकर दाए पर को पूर्ववत् बाए घुटन से आगे ले जाकर रखा जाता है दाए हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर बाए ऊरु के मूल मे स्थापित किया जाता है और शेष क्रिया पूर्ववत् की जाती है तब अर्धमत्स्येन्द्रासन हो जाता है। दूसरी आवृत्ति मे परो और हाथो का क्रम बदल लेना चाहिए। अर्धमत्स्येन्द्रासन का समय और फल पूर्ववत् है। मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा फल की मात्रा इसम कम होती है।

पश्चिमोत्तानासन

विधि—सीधे बैठकर दोनो पैरो को आगे की ओर समरेखा मे फलाइए। फिर श्वास का रेचन कर शरीर को आगे की ओर झुकाते हुए दोनो हाथों की अगुलियो से परो के अगूठों को पकडिए और सिर को दोनो घुटनो के बीच मे टिका दीजिए।

समय—इस आसन की सिद्धि आधा घटा तक करने से होती है।

फल—१ मन्दाग्नि आदि उदर रोगो का शमन।

२ हर्निया की बीमारी मे लाभकारी।

महामुद्रा

विधि—किसी एक पर की एडी सीवन और गुदा के मध्यभाग मे लगाइए तथा दूसरे पर को सीधा फला दीजिए। श्वास बाहर निकालिए। उड्डीयान बन्ध कीजिए। सिर घुटने पर टिकाइए। दूसरे पर से भी वैसी ही पुनरावृत्ति कीजिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—१ वीर्याशय तथा पाचनयन्त्र की दृढ़ता।

सम्प्रसारण भूनमनासन

विधि—सीधे बैठकर परो को यथाशक्ति फलाइए। हाथों से पैरो के अगूठे पकडकर सिर को भूमि पर रखिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—२ वीर्यतन्त्र की रक्षा।

कन्दपीडनासन

विधि—१ दाएं पैर के पंजे या ऊर्ध्वभाग पर टेककर एड़ी को सीवन तथा गुदा से सटाइए। बाएं पैर को दाएं घुटने पर रखिए। दोनों हाथों से दोनों कमर के पार्श्वों को पकड़िए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—१ वीर्य-वाहिनी नाड़ियों की शुद्धि।

लेटकर किए जाने वाले आसन

दण्डायतशयन

विधि—दण्ड की तरह सीधे लेट जाइए। दोनों पैरों को परस्पर सटा दीजिए तथा दोनों हाथों को दोनों पैरों से सटा दीजिए।

समय—कम से कम पांच मिनट और सुविधानुसार घंटों तक किया जा सकता है।

फल—१ दैहिक प्रवृत्ति और स्नायविक तनाव का विसर्जन।

आम्रकुब्जिकाशयन

विधि—भूमि पर किसी भी पार्श्व से लेट जाइए। सिर और पैरों को कुछ आगे की ओर निकालिए। इसमें दोनों ओर से नीचे की ओर झुके हुए आम की भांति कुछ कुब्ज-आकार हो जाता है।

समय—दीर्घकाल।

फल—१ पार्श्व के स्नायुओं की शुद्धि।

उत्तानशयन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। सिर से लेकर पैर तक के अवयवों को पहले तानें और फिर क्रमश: उन्हें शिथिल कीजिए। सममात्रा में तथा दीर्घ श्वास-उच्छ्वास लीजिए। मन को श्वास-उच्छ्वास में लगाकर एकाग्र, स्थिर और विचारशून्य हो जाइए। हाथों और पैरों को अलग-अलग रखिए।

अधमत्स्येन्द्रासन

जब बाएं पैर की एड़ी को गुदा और सीवन के बीच में रखकर दाएं पैर को पूर्ववत् बाएं घुटने से आगे ले जाकर रखा जाता है, दाएं हाथ को पीठ के पीछे से लाकर बाएं ऊरु के मूल में स्थापित किया जाता है और शेष क्रिया पूर्ववत् की जाती है तब अधमत्स्येन्द्रासन हो जाता है। दूसरी आवृत्ति में पैरों और हाथों का क्रम बदल देना चाहिए। अधमत्स्येन्द्रासन का समय और फल पूर्ववत् है। मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा फल की मात्रा इसमें कम होती है।

पश्चिमोत्तानासन

विधि—सीधे बैठकर दोनों पैरों को आगे की ओर समरेखा में फलाइए। फिर श्वास का रेचन कर शरीर को आगे की ओर झुकाते हुए दोनों हाथों की अंगुलियों से पैरों के अंगूठों को पकड़िए और सिर को दोनों घुटनों के बीच में टिका दीजिए।

समय—इस आसन की सिद्धि आधा घंटा तक करने से होती है।

फल—१ मन्दाग्नि आदि उदर रोगों का शमन।

२ हर्निया की बीमारी में लाभकारी।

महामुद्रा

विधि—किसी एक पैर की एड़ी सीवन और गुदा के मध्यभाग में लगाइए तथा दूसरे पैर को सीधा फैला दीजिए। श्वास बाहर निकालिए। उड्डीयान बन्ध कीजिए। सिर घुटने पर टिकाइए। दूसरे पैर से भी वैसी ही पुनरावृत्ति कीजिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—१ वीर्याशय तथा पाचनयन्त्र की दृढ़ता।

सम्प्रसारण भूनमनासन

विधि—सीधे बैठकर पैरों को यथाशक्ति फैलाइए। हाथों से पैरों के अंगूठे पकड़कर सिर को भूमि पर रखिए।

समय—एक या दो मिनट।

अधमत्स्येन्द्रासन

जब बाए पैर की एडी को गुदा और सीवन के बीच म रखकर दाए पैर को पूर्ववत् बाए घुटने से आगे ले जाकर रखा जाता है, दाए हाथ को पीठ के पीछे ले जाकर बाए ऊरु के मूल म स्थापित किया जाता है और शेष क्रिया पूर्ववत् की जाती है तब अधमत्स्येन्द्रासन हो जाता है। दूसरी आवृत्ति म पैरो और हाथो का क्रम बदल देना चाहिए। अधमत्स्येन्द्रासन का समय और फल पूर्ववत् है। मत्स्येन्द्रासन की अपेक्षा फल की मात्रा इसम कम होती है।

पश्चिमोत्तानासन

विधि—सीधे बठकर दोनो पैरो को आगे की ओर समरेखा म फैलाइए। फिर श्वास का रेचन कर शरीर को आगे की ओर झुकाते हुए दोनो हाथों की अगुलियो से पैरो के अगूठों को पकडिए और सिर को दोनों घुटनो के बीच म टिका दीजिए।

समय—इस आसन की सिद्धि आधा घटा तक करने से होती है।

फल—१ मन्दाग्नि आदि उदर रोगो का शमन।

२ हर्निया की बीमारी म लाभकारी।

महामुद्रा

विधि—किसी एक पैर की एडी सीवन और गुदा के मध्यभाग मे लगाइए तथा दूसरे पर को सीधा फैला दीजिए। श्वास बाहर निकालिए। उड्डीयान बध कीजिए। सिर घुटने पर टिकाइए। दूसरे पर से भी यही ही पुनरावृत्ति कीजिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—१ वीर्याशय तथा पाचनयंत्र की दृढ़ता।

सप्रसारण भूनमनासन

विधि—सीधे बठकर परो को यथाशक्ति फैलाइए। हाथो से पैरो के अगूठे पकडकर सिर को भूमि पर रखिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—२ वीर्याशय की दृढता।

कन्दपीडनासन

विधि—१ सीधे पैर के पजे को जमीन पर टेक एडी को सीवन तथा गुदा से सटाइए। बाए पैर को दाए घुटने पर रखिए। दोनो हाथो से दोनो कमर के पार्श्वों को पकडिए।

समय—एक या दो मिनट।

फल—१ वीर्य-वाहिनी नाडियो की शुद्धि।

लेटकर किए जाने वाले आसन

दण्डायतशयन

विधि—दण्ड की तरह सीधे लेट जाइए। दोनो पैरो को परस्पर सटा दीजिए तथा दोनो हाथो को दोनो पैरो से सटा दीजिए।

समय—कम से कम पाच मिनट और सुविधानुसार घटो तक किया जा सकता है।

फल—१ दैहिक प्रवृत्ति और स्नायविक तनाव का विसर्जन।

आम्रकुब्जिकाशयन

विधि—भूमि पर किसी भी पार्श्व से लेट जाइए। सिर और पैरो को कुछ आगे की ओर निकालिए। इसमे दोनो ओर से नीचे की ओर झुके हुए आम की भाति कुछ कुब्ज-आकार हो जाता है।

समय—दीर्घकाल।

फल—१ पार्श्व के स्नायुओ की शुद्धि।

उत्तानशयन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। सिर से लेकर पैर तक के अवयवो को पहले ताने और फिर क्रमश उन्हे शिथिल कीजिए। समप्रमात्रा मे तथा दीर्घ श्वास-उच्छ्वास लीजिए। मन को श्वास-उच्छ्वास मे लगाकर एकाग्र, स्थिर और विचारशून्य हो जाइए। हाथो और पैरो को अलग-अलग रखिए।

समय—१ दीर्घकाल।

फल—दैहिक प्रवृत्ति और स्नायविक तनाव का विसर्जन।

इसे सुप्त कायोत्सर्ग या शवासन भी कहते हैं।

अधमस्तकशयन

विधि—औंधे मुंह लेट जाइए। हाथों और पैरों को उत्तानशयन की भांति रखिए।

समय—पांच मिनट।

फल—१ वायु व उदर दोषों की शुद्धि।

एकपार्श्वशयन

विधि—बाएं या दाएं किसी एक पार्श्व से लेट जाइए और उस पार्श्व के हाथ को सिर के नीचे रखिए।

समय—दीर्घकाल।

फल—१ वीर्य की सुरक्षा।
२ स्वप्नदोष से बचने का सुन्दर उपाय।
३ बाएं पार्श्व सोने से पाचन क्रिया ठीक होती है और सहज ही रात्रिकाल में सूर्य स्वर चालू रहता है।
४ दाएं पार्श्व सोने से वायु शुद्धि होती है।

ऊर्ध्वशयन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। नाभि से ऊपर के अथवा नीचे के भाग को ऊंचा उठाइए।

समय—तीन से पांच मिनट।

फल—१ कटि भाग तथा उसके नीचे और ऊपर के भागों की पेशियों पर प्रभाव होता है।
२ शुक्र-ग्रन्थियां प्रभावित होती हैं।

लकुटासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। लकुट (वक्र काष्ठ) की भांति एड़ियां और सिर को भूमि से सटाकर शेष शरीर को ऊपर उठाइए।

पीठ को भूमि मे सटाकर शेष शरीर को ऊपर उठाकर सोने को भी लकुटासन कहा जाता है।

समय—तीन मिनट से पाच मिनट।

फल—१ कटि के स्नायुओ की शुद्धि।

२ उदर-दोषो की शुद्धि।

मत्स्यासन

विधि—पद्मासन लगाकर लेट जाइए। दोनो हाथो से दोनो पैरो के अगूठे पकडिए। सीने को ऊपर की ओर उठाकर सिर को जितना पीछे की ओर ले जा सके, ले जाकर भूमि पर टिकाइए।

दूसरे प्रकार मे जालन्धर बन्ध भी किया जाता है।

समय—एक मिनट से पन्द्रह मिनट तक।

फल—पहली विधि

१ उदर के स्नायुओ पर प्रभाव होता है।

२ कोष्ठबद्धता मिटती है।

३ गर्दन के स्नायु पुष्ट होते है।

४ फेफडो का व्यायाम होता है।

दूसरी विधि

गले और मस्तिष्क पर प्रभाव होता है।

पवनमुक्तासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। बाए पैर को उठाकर उसे मोडते हुए उससे बाए वक्ष को दबाइए। फिर उसे सीधा कर दीजिए। दाए पैर से भी उसी क्रिया को दोहराइए। फिर दोनो पैरो से एक साथ वक्ष के दोनो पार्श्वो को दबाइए। फिर दोनो पैरो को फैला दीजिए। यह बैठकर भी किया जा सकता है।

समय—पाच मिनट से पन्द्रह मिनट तक।

फल—१ अपान वायु की शुद्धि।

२ वायु (गैस) का ऊर्ध्वगामी होना बद हो जाता है।

भुजंगासन

विधि—भूमि पर पट के बल लेट जाइए। दोनों हाथों के पंजों को पट के दोनों पार्श्वों से सटाते हुए भूमि पर टिकाइए। फिर हाथों को वक्ष के पास लाकर पूरक करते हुए नाभि से ऊपर के भाग को ऊपर की ओर उठाते हुए सर्प के फन की मुद्रा में हो जाइए।

समय—उक्त मुद्रा में एक दो मिनट कुम्भक के साथ रहिए। फिर श्वास का रेचन करते हुए धीमे धीमे औंधा लेटने की मुद्रा में आ जाइए।

फल—१ स्वप्न दोष मिटता है।
२ वीर्य शुद्ध होता है।
३ प्राणायाम से होने वाले लाभ भी सहज प्राप्त हो जाते हैं।

धनुरासन

विधि—भूमि पर पट के बल लेट जाइए। पैरों को घुटनों के पास मोड़ते हुए पीछे ऊपर की ओर ले जाइए। दोनों हाथों को पीछे की ओर फैलाते हुए उनसे दोनों पैरों के टखनों के पास का भाग पकड़िए। भुजंगासन की भांति नाभि से ऊपर के भाग को ऊपर की ओर उठाइए।

समय—एक से पांच मिनट।

फल—१ यकृत प्लीहा और उदर के रोग शान्त होते हैं।

विपरीत क्रिया

सर्वांगासन

विधि—भूमि पर सीधे लेट जाइए। फिर धीमे धीमे दोनों पैरों, गर्दियों (ऊरुओं) तथा गर्दन तक के शरीर को ऊपर की ओर ले जाइए। दोनों हथेलियों से कमर को हल्का-सा सहारा दीजिए।

समय—दो मिनट से आधा घंटा।

फल—१ मस्तिष्क और हृदय के स्नायुओं की शुद्धि।
२ उदर रोगों का शमन।

३ वीर्य-दोषो की शुद्धि ।

४ कण्ठमणि पर दबाव पड़ने के कारण उसका समुचित स्राव होता है ।

सर्वांगासन मे पैरो को पीछे की ओर मोडकर भूमि से सटा देने पर हलासन हो जाता है ।

समय—एक मिनट से पन्द्रह मिनट तक ।

फल—१ पृष्ठरज्जु लचीला होता है ।

२ अग्नि प्रदीप्त होती है ।

सर्वांगासन मे पैरो को मोडकर दोनो कानो के पास सटा देने पर कर्णपीडनासन हो जाता है ।

समय—सुविधानुसार ।

कर्णपीडनासन का उपयोग ध्यान के लिए भी किया जा सकता है ।

शीर्षासन

विधि—दोनो घुटनो के बल बैठकर दोनो हथेलियो की अगुलियो को एक-दूसरे से बांधकर उन्हे भूमि पर टिकाइए । अथवा किसी मोटे कपड़े को नीचे रखिए । उन पर सिर को रखकर समूचे शरीर को ऊपर की ओर ले जाकर टिका दीजिए । प्रारम्भ मे यह भीत आदि के सहारे किया जा सकता है । अभ्यास होने पर सहारे की अपेक्षा नही होती ।

समय—एक-दो मिनट से आधा घटा ।

फल—१ समूचे शरीर पर प्रभाव होता है । मस्तिष्क, वीर्य और पाचन-सस्थान पर विशेष प्रभाव होता है ।

पित्त-प्रधान प्रकृति वालो के लिए यह आसन हितकर नही होता । उससे नेत्र-विकार होने की सभावना रहती है ।

ध्यानासन

ध्यानासन मुख्य रूप से पाच है

१ गोदोहिका

२ सिद्धासन

३ पद्मासन
४ सुखासन
५ कायोत्सर्ग
इनके अतिरिक्त शेष सब मुख्य रूप से शरीरासन हैं।

शरीरासन

शरीरासन शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य तथा कष्ट-सहिष्णुता आदि की शक्ति को विकसित करने के लिए किए जाते हैं।

आसनों का वर्गीकरण

स्वास्थ्य के मूल तत्त्व हैं
१ वीर्याशय की शुद्धि।
२ नाड़ी संस्थान की शुद्धि।
३ पाचन संस्थान की शुद्धि।
४ वायु शुद्धि।
५ उत्सर्ग शुद्धि।

वीर्याशय की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन
१ भुजंगासन
२ अर्धभारण भुजंगासन
३ कन्दपीडनासन
४ कुक्कुटासन
५ योगमुद्रा
६ मत्स्येन्द्रासन
७ महामुद्रा।

नाड़ी-संस्थान की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन
१ कुक्कुटासन
२ वीरासन

पाचन-संस्थान की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन

१ सुप्त पद्मासन (पद्मासन में लेटना)
२ अर्धलकुटासन (पैरों को ऊपर उठाए रखना)
३ महामुद्रा
४ योगमुद्रा
५ मत्स्येन्द्रासन
६ सोड्डीयानपद्मासन
७ पश्चिमोत्तानासन
८ धनुरासन
९ सर्वांगासन

वायु-शुद्धि के लिए उपयोगी आसन

१ पवनमुक्तासन
२ उत्थितपद्मासन

ये श्वास-शुद्धि के लिए भी उपयोगी हैं।

उत्सर्ग-शुद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१ सोड्डीयान पद्मासन
२ बद्धपद्मासन
३ मुष्टियुक्तयोगमुद्रा (योगमुद्रा में दोनों मुट्ठियों को एड़ियों के पास सटाकर बैठना)।
४ अर्धलकुटासन (उत्थित पादासन)।

शरीर के विभिन्न अवयवों की उपयोगिता की दृष्टि से भी आसनों के कुछ वर्गीकरण किए जा सकते हैं

सिर, नाक, कान और आंख के लिए उपयोगी आसन :

१ सर्वांगासन
२. ऊर्ध्वपद्मासन

गर्दन और कन्धों के लिए उपयोगी आसन

१ सर्वांगासन
२ हलासन

३ पद्मासन
४ सुखासन
५ कायोत्सर्ग
इनके अतिरिक्त शेष सब मुख्य रूप से शरीरासन हैं।

शरीरासन

शरीरासन शारीरिक व मानसिक स्वास्थ्य तथा कष्ट-सहिष्णुता आदि की शक्ति को विकसित करने के लिए किए जाते हैं।

आसनों का वर्गीकरण

स्वास्थ्य के मूल तत्त्व हैं
१ वीर्याशय की शुद्धि।
२ नाड़ी संस्थान की शुद्धि।
३ पाचन-संस्थान की शुद्धि।
४ वायु शुद्धि।
५ उत्सर्ग शुद्धि।

वीर्याशय की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन
१ भुजंगासन
२ सम्प्रसारण भूनमनासन
३ कर्णपीडनासन
४ कुक्कुटासन
५ योगमुद्रा
६ मत्स्येन्द्रासन
७ महामुद्रा।

नाड़ी संस्थान की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन
१ कुक्कुटासन
२ वीरासन

पाचन-संस्थान की शुद्धि के लिए उपयोगी आसन

१ सुप्त पद्मासन (पद्मासन मे लेटना)
२ अर्धलकुटासन (पैरो को ऊपर उठाए रखना)
३ महामुद्रा
४ योगमुद्रा
५ मत्स्येन्द्रासन
६ सोड्डीयानपद्मासन
७ पश्चिमोत्तानासन
८ धनुरासन
९ सर्वांगासन

वायु-शुद्धि के लिए उपयोगी आसन

१ पवनमुक्तासन
२ उत्थितपद्मासन

ये श्वास-शुद्धि के लिए भी उपयोगी है।

उत्सर्ग-शुद्धि के लिए उपयोगी आसन :

१ सोड्डीयान पद्मासन
२ बद्धपद्मासन
३ मुष्टियुक्तयोगमुद्रा (योगमुद्रा मे दोनो मुट्ठियो को एडियो के पास सटाकर बैठना)।
४ अर्धलकुटासन (उत्थित पादासन)।

शरीर के विभिन्न अवयवो की उपयोगिता की दृष्टि से भी आसनो के कुछ वर्गीकरण किए जा सकते है :

सिर, नाक, कान और आख के लिए उपयोगी आसन .

१ सर्वांगासन
२ ऊर्ध्वपद्मासन

गर्दन और कन्धो के लिए उपयोगी आसन .

१ सर्वांगासन
२ हलासन

३ मत्स्यासन
४ जालंधरबन्ध

छाती फेफड़े और हृदय के लिए उपयोगी आसन

१ भुजंगासन
२ धनुरासन
३ पवनमुक्तासन
४ प्राणायाम

हाथ और पैर के लिए उपयोगी आसन

१ उत्थित पद्मासन

वपण-वृद्धि के लिए उपयोगी आसन

१ सर्वांगासन
२ शीर्षासन

आसन सम्बन्धी सामान्य निर्देश

१ आसनकाल म मन तनाव से मुक्त रहना चाहिए। शारीरिक तनाव मानसिक तनाव से पैदा होता है। मन जितना खाली होगा उतना ही शरीर तनावमुक्त होगा अर्थात् आसन के प्रायोग्य होगा।

२ जिस अवयव सम्बन्धी आसन कर उसी अवयव में मन को टिकाए रखें।

३ श्वास दीर्घ और मन्द लें। मन की गति आसन से सम्बन्धित अवयव पर होती है तो श्वास का अन्त प्रवाह मुख्य रूप से उस अवयव की ओर सहज ही हो जाता है।

४ आसन का प्रयोग शुद्ध हवा में करना चाहिए।

५ पद्मासन-सुखासन जैसे मृदु आसनों को छोड़कर शेष अधिकांश आसन भोजन के पश्चात् तीन घंटा से पहले नहीं करने चाहिए। कठोर आसन करने के पश्चात् आधा घंटा से पहले भोजन नहीं करना चाहिए। साधारणतया शौच से निवृत्त होने के पश्चात् प्रातःकाल म आसन करना

अति उपयुक्त है अथवा रात्रिकाल में।

६ आसन करने वाले को डटकर भोजन नहीं करना चाहिए। उसका भोजन सात्त्विक होना चाहिए।

७ आसन के पश्चात् उसका प्रतिलोम आसन अवश्य करना चाहिए। जैसे—

अनुलोम	प्रतिलोम
सर्वांगासन	मत्स्यासन
भुजगासन	पश्चिमोत्तानासन

प्रतिलोम आसन की काल-मर्यादा अनुलोम आसन से आधी होनी चाहिए। यदि दस मिनट सर्वांगासन हो तो मत्स्यासन पांच मिनट करना चाहिए।

८ प्रत्येक आसन के पश्चात् एक मिनट का उत्तानशयन (शवासन) करना चाहिए और आसन के पूरे क्रम की समाप्ति पर उक्त आसन पांच मिनट से पन्द्रह मिनट तक करना चाहिए।

९. आसन-काल में कसा हुआ वस्त्र, जो रक्त-संचार में बाधा डाले, नहीं पहनना चाहिए किन्तु कौपीन आवश्यक है।

१० हर आसन के साथ मूलबन्ध अवश्य करना चाहिए।

आसन का सामान्य प्रयोजन

भगवान महावीर ने आसन को तप का एक प्रकार बतलाया है। उनकी भाषा में आसन का नाम कायक्लेश है। आसन के द्वारा शरीर को कुछ कष्ट होता है। उस कष्ट से मानसिक धैर्य और सहिष्णुता का विकास होता है। यह आसन का आध्यात्मिक लाभ है।

आसन के द्वारा धमनियों में रक्त का संचार उचित प्रकार से होता है। अवस्था के साथ हृदय की धमनियां कठोर और सकरी होती जाती हैं। उन्हें रोकने का उपाय आसन के द्वारा समुचित मात्रा में रक्त पहुंचाते रहना है। इस प्रकार आध्यात्मिक और शारीरिक दोनों दृष्टियों से आसन

१४. इन्द्रियाणां विषय-प्रचारनिरोधो विषय-प्राप्तेषु अर्थेषु राग-द्वेष-निग्रहश्च इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता ॥

१५. क्रोधादीनां उदय-निरोधस्तेषामुदयप्राप्तानां च विफलीकरणं कषाय-प्रतिसंलीनता ॥

१६. ऐकाग्र्योपघातक-तत्त्व-रहितेषु स्थानेषु निवसनं विविक्तवासः ॥

१३ पांच इन्द्रिय (स्पर्शन, रसन, घ्राण, चक्षु और श्रोत्र), चार कषाय (क्रोध, मान, माया और लोभ) के निग्रह तथा विविक्त-वास (एकान्तवास) को प्रतिसंलीनता (प्रत्याहार) कहा जाता है।

इस परिभाषा से प्रतिसंलीनता के तीन प्रकार फलित होते हैं :

१ इन्द्रियप्रतिसंलीनता

२ कषायप्रतिसंलीनता

३ विविक्तवास

१४ इन्द्रियों के विषय-प्रचार को रोकने (विषयों का ग्रहण न करने) तथा जो विषय प्राप्त हों उन पर राग-द्वेष न करने को इन्द्रिय-प्रतिसंलीनता कहा जाता है।

१५. क्रोध, मान, माया और लोभ को उदय में न लाने तथा वे उदय में आ जाएं तो उन्हें विफल करने को कषाय-प्रतिसंलीनता कहा जाता है।

१६. एकाग्रता में बाधा डालने वाले तत्त्वों से रहित स्थान में रहने को विविक्तवास कहा जाता है।

प्रतिसंलीनता

मानसिक चंचलता कुछ निमित्तों से होती है। उनमें पहला निमित्त इन्द्रिय हैं। वे जब बाह्य जगत् के साथ सम्पर्क स्थापित करती हैं, तब मन को चंचल बनाते हैं, इसीलिए साधना की भूमिका में उनको अन्तर्मुखी करने का प्रयत्न किया जाता है। उनके अन्तर्मुखी होने का अर्थ है—विषयों

के साथ सम्यक स्थापित न करना। किन्तु इस जगत् में यह कब संभव है कि हमारे इन्द्रिय विषयों से सर्वथा असम्पृक्त रह सकें? इस कोलाहल मय जगत् में क्या यह सम्भव है कि कान हो और शब्द सुनाई न दे? इस रूपमय जगत् में क्या यह सम्भव है कि आंख हो और रूप को न देखें? वायु के साथ प्रवाहित होकर आने वाली गंध को कैसे रोका जा सकता है? रस और स्पर्श के सम्पर्क को भी सर्वथा नहीं रोका जा सकता। इस स्थिति में हम विषयों से असम्पृक्त एक सीमा में ही रह सकते हैं।

क्या इस स्थिति में हम मानसिक चंचलता को रोकने में सफल हो सकते हैं? नहीं हो सकते। किन्तु मनुष्य का शक्तिशाली मस्तिष्क नहीं को हां में बदल देता है। उसने एक विकल्प खोज निकाला कि मन की स्थिरता का अभ्यास करने वाला व्यक्ति विषयों के सम्पर्क से जितना बच सके उतना बचे और न बच सकने की स्थिति में वह उनके प्रति अनासक्त रहे। विषयों के असम्पर्क और अनिवार्य रूपेण प्राप्त विषयों के प्रति अनासक्ति ये दोनों मिलकर इन्द्रिय प्रतिसंलीनता की प्रक्रिया को पूरा करते हैं।

अभ्यास की अपरिपक्व दशा में विषयों से बचाव करना बहुत उपयोगी है और जैसे-जैसे एकाग्रता का अभ्यास परिपक्व होता जाए वैसे-वैसे विषयों से बचने की अपेक्षा उनके प्रति होने वाली आसक्ति से बचना बहुत आवश्यक है। विषयों से बचने की प्रवृत्ति हो और अनासक्ति का भाव न हो, उस स्थिति में आन्तरिक पवित्रता पर बाह्याचार की विजय होती है। विषयों से बचने का प्रयत्न अनासक्ति की साधना का पहला चरण है। इसलिए उसकी उपेक्षा नहीं की जा सकती। सिद्धि का द्वार इन दोनों के सामंजस्य होने पर ही खुलता है।

आसक्ति के कारण व्यक्ति के मन में क्रोध, अभिमान, माया और लोभ के भाव उत्पन्न होते हैं और वे मन को व्यग्र बनाते हैं। उन पर विजय पाए बिना कोई भी व्यक्ति एकाग्रता को परिपुष्ट नहीं बना सकता और इन्द्रियों को भी अन्तर्मुखी नहीं बना सकता। कषाय प्रतिसंलीनता के चार साधन हैं

१. क्रोध-निवृत्ति के लिए उपशम भावना का अभ्यास।

२. मान-निवृत्ति के लिए मृदुता का अभ्यास।

३. माया-निवृत्ति के लिए ऋजुता का अभ्यास।

४. लोभ-निवृत्ति के लिए संतोष—अपनी आन्तरिक समृद्धि के निरीक्षण का अभ्यास।

इन प्रतिपक्ष भावनाओ का पुन-पुन अभ्यास करने से कषाय अपने हेतुओ मे विलीन हो जाता है।

आन्तरिक अनुभूति और शून्यता की गहराई मे जाने के लिए एकातवास बहुत मूल्यवान है। कोलाहलमय वातावरण मे हम दूसरो को सुनते है किन्तु अपने अन्तर् की आवाज नही सुन पाते। रगीन वातावरण मे हम दूसरो को देखते है किन्तु इस शरीर मे बिराजमान चिन्मय प्रभु को नही देख पाते। एकान्तवास मे अपने अन्त करण की आवाज सुनने और अपने प्रभु से साक्षात्कार करने का सुन्दर अवसर मिलता है। उससे हमारा मन बाह्य सम्पर्को से मुक्त होकर अपने शक्तिस्रोत मे विलीन हो जाता है।

१७ आत्मानं प्रत्यनुप्रेक्षा स्वाध्यायः॥

१७ आत्मा के विषय मे अनुप्रेक्षा (चिन्तन, मनन) करने को स्वाध्याय कहा जाता है।

स्वाध्याय

योग के आचार्यों ने परमात्म-प्राप्ति के दो साधन माने है—ध्यान और स्वाध्याय। उन्होंने लिखा है—स्वाध्याय करो और फिर ध्यान। ध्यान करो और फिर स्वाध्याय। इस प्रकार स्वाध्याय और ध्यान का अभ्यास करने से परमात्मा प्रकट हो जाता है—

स्वाध्याद् ध्यानमध्यास्ता, ध्यानात् स्वाध्यायमामनेत्।
स्वाध्याय-ध्यान-सम्पत्त्या, परमात्मा प्रकाशते॥

स्वाध्याय का शाब्दिक अर्थ है—पढना। साधना के सदर्भ मे केवल पढना स्वाध्याय नही है किन्तु आत्मा के विषय मे जानना, विचार करना,

मनन करना स्वाध्याय है। वह ध्यान का मूल बीज है। जिसका आत्म विचार स्पष्ट नही है जिसे 'मैं कौन हू' इस विषय की स्पष्ट धारणा नही है और जिसे आत्मा और शरीर के भेद-ज्ञान का बोध नही है, वह ध्यान की उत्कृष्ट भूमिकाओं मे कसे प्रवेश पा सकता है ? इसलिए ध्यान के मूलबीज के रूप म स्वाध्याय का बहुत बडा महत्त्व है।

१८ चेतोविशुद्धये मोहक्षयाय स्थैर्यापादनाय विशिष्टसस्काराधान भावना ॥

१९ अनित्य-अशरण भव-एकत्व-अन्यत्व-अशौच - आस्रव-सवर - निर्जरा धर्म-लोकसस्थान-बोधिदुर्लभता ॥

२० मत्री-प्रमोद-कारुण्य-मध्यस्थताश्च ॥

२१ उपशमादिवृद्धभावनया क्रोधादीना जय ॥

१८ चित्त की शुद्धि, मोहक्षय तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की वृत्ति को स्थिर करने के लिए जो विशिष्ट सस्कार आहित (स्थापित) किए जाते हैं उनका नाम भावना है।

१९ भावनाए बारह हैं

१ अनित्य	७ आस्रव
२ अशरण	८ सवर
३ भव	९ निर्जरा
४ एकत्व	१० धर्म
५ अन्यत्व	११ लोक-सस्थान
६ अशौच	१२ बोधि-दुर्लभता

इनका बार बार चिन्तन करने से मोह क्षीण होता है, चित्त शुद्ध होता है—सतुलित होता है और कर्तव्य म स्थिरता प्राप्त होती है।

२० चार भावनाए और हैं

१ मैत्री	३ करुणा
२ प्रमोद	४ मध्यस्थता

इनसे आत्मौपम्य, गुण-ग्रहण-वृत्ति, मृदुता और तटस्थता का विकास

होता है।

२१. उपशम आदि की दृढ भावना करने से—उनका बार-बार दृढ अभ्यास करने से क्रोध आदि पर विजय प्राप्त होती है।

भावना

'कंटकात् कटकमुद्धरेत्'—काटे से काटा निकालने की नीति साधना के क्षेत्र मे भी लागू होती है। चित्त को वासनाओ से मुक्त करना साधक का लक्ष्य होता है पर पहले ही चरण मे दीर्घकालीन वासनाओ को एक साथ निर्मूल नही किया जा सकता। उन्हे निरस्त करने के लिए नई वासनाओ की सृष्टि करनी होती है। वे नई वासनाएं यथार्थपरक होती हैं, इसलिए उनका असत् से सम्बन्धित वासनाओ पर दबाव पडता है और वे उनसे अभिभूत हो जाती है।

वासना का ही दूसरा नाम भावना है। शास्त्रीय ज्ञान या शब्दज्ञान का जो सहारा लिया जाता है, वह वासना है। इसे भावना, जप, धारणा, संस्कार, अनुप्रेक्षा और अर्थचिंता भी कहा जाता है और ये सब स्वाध्याय के ही प्रकार है।

जैन साधना पद्धति मे 'भावनायोग' शब्द का व्यवहार हुआ है। भावना से मन आत्मा या सत्य से युक्त होता है, इसलिए यह योग है। भावना मे ज्ञान और अभ्यास इन दोनो के लिए अवकाश है।

भावनाओ के प्रकार असख्य हो सकते है। उन्हे किसी वर्गीकरण मे नही बाधा जा सकता, फिर भी दिशा-निर्देश के रूप मे एक-दो वर्गीकरण प्रस्तुत किए जा सकते है। प्रथम वर्गीकरण मे बारह भावनाओ का उल्लेख है :

१. अनित्य	५. अन्यत्व
२. अशरण	६ अशौच
३. भव	७ आश्रव
४ एकत्व	८ सवर

मनन करना स्वाध्याय है। वह ध्यान का मूल बीज है। जिसका आत्म विचार स्पष्ट नहीं है, जिसे मैं कौन हूं इस विषय की स्पष्ट धारणा नहीं है और जिसे आत्मा और शरीर के भेद-ज्ञान का बोध नहीं है, वह ध्यान की उत्कृष्ट भूमिकाओं म कैसे प्रवेश पा सकता है ? इसलिए ध्यान के मूलबीज के रूप म स्वाध्याय का बहुत बड़ा महत्त्व है।

१८ चेतोविशुद्धये मोहक्षयाय स्थैर्यापादनाय विशिष्टसंस्काराधानं भावना ॥

१९. अनित्य-अशरण-भव-एकत्व-अन्यत्व-अशौच-आस्रव-संवर-निर्जरा-धर्म-लोकसंस्थान-बोधिदुर्लभता: ॥

२० मैत्री प्रमोद-कारुण्य माध्यस्थ्यताश्च ॥

२१ उपशमादिभावनया क्रोधादीनां जयः ॥

१८ चित्त की शुद्धि मोहक्षय तथा अहिंसा, सत्य, अस्तेय ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह की वृत्ति को स्थिर करने के लिए जो विशिष्ट संस्कार आहित (स्थापित) किए जाते हैं उनका नाम भावना है।

१९. भावनाएं बारह हैं

१ अनित्य	७ आस्रव
२ अशरण	८ संवर
३ भव	९ निर्जरा
४ एकत्व	१० धर्म
५ अन्यत्व	११ लोक-संस्थान
६ अशौच	१२ बोधि-दुर्लभता

इनका बार बार चिन्तन करने से मोह क्षीण होता है, चित्त शुद्ध होता है—संतुलित होता है और कर्तव्य म स्थिरता प्राप्त होती है।

२० चार भावनाएं और हैं

१ मैत्री	३ करुणा
२ प्रमोद	४ मध्यस्थता

इनसे आत्मौपम्य, गुण-ग्रहण-वृत्ति, मृदुता और तटस्थता का विकास

९ निर्जरा	११ लोक-संस्थान
१० धर्म	१२ बोधि दुर्लभता

अनित्य भावना

जितने संयोग हैं उनका अन्त वियोग में होता है—संयोगा विप्रयोगान्ताः—फिर भी चिर सम्पर्क के कारण मनुष्य संयोग को शाश्वत मान बैठता है और जब उसका वियोग होता है तब वह उसके लिए आकुल हो उठता है। यह आकुलता दुःख और ताप वस्तु के वियोग से नहीं होता किन्तु उसके संयोग के प्रति शाश्वत की भावना होने से होता है। अनित्य भावना का प्रयोजन चित्त में (संयोग और वस्तु की नश्वरता के प्रति) अशाश्वतता की भावना को पुष्ट बनाए रखता है। इस भावना का अभ्यासी साधक वियोग को नहीं रोक सकता किन्तु उससे प्रवाहित होने वाली दुःख की धारा को रोक सकता है।

अशरण भावना

मनुष्य अपूर्ण है। वह अपूर्ण है इसलिए बाह्य वस्तुओं के द्वारा पूर्ण होने का प्रयत्न करता है। से दुःख अशान्ति दरिद्रता आदि अनेक समस्याओं का सामना करना पड़ता है। वह उस समय में विजयी होने के लिए दूसरों का सहारा चाहता है, त्राण और शरण की अपेक्षा रखता है। सामाजिक जीवन में सहारा त्राण और शरण मिलती भी है किन्तु यह तात्कालिक सत्य है। त्रैकालिक सत्य यह है कि अपने पुरुषार्थ पर आदमी निश्चित रूप से भरोसा कर सकता है इसलिए वस्तुतः सहारा, त्राण या शरण अपने पुरुषार्थ में ही है, अन्यत्र नहीं है। इस अंतिम सचाई के आधार पर स्वयं में स्वयं का त्राण खोजना और दूसरों के त्राणदान में एकान्तिक व आत्यन्तिक कल्पना न करना—अशरण भावना है। इस भावना से भावित मनुष्य का कर्तृत्व प्रबल हो उठता है और दूसरों के द्वारा विश्वासघात होने पर उसका धैर्य विचलित नहीं होता।

भव भावना

इस दुनिया में सब प्राणी समान नहीं हैं और सब मनुष्य भी समान

अशौच भावना

पुद्गलों के बाहरी संस्थान का सौन्दर्य देखकर उनमें मन आसक्त हो जाता है। चमड़ी के भीतर जो है वह आकर्षक नहीं है। बाहरी संस्थान के साथ आन्तरिक वस्तुओं का बोध करना—उन्हें साक्षात् देखना अनासक्ति का हेतु है। प्राणी के शरीर में रहने वाले अशुचि पदार्थ मल शरीर की दुर्गन्ध आदि का बोध होने पर मूर्च्छा का भाव क्षीण हो जाता है।

आस्रव-संवर भावना

बाहर से कुछ लेना, उसे संचित करना, उससे प्रभावित होना और उसके अनुरूप अपने आपको ढालना—ये सब आस्रव की प्रक्रियाएं हैं। यही मानसिक चंचलता की प्रक्रिया है। संवर की क्रिया इसकी प्रतिपक्ष है। बाहर से कुछ भी लिया नहीं जाएगा तो उससे प्रभावित होने की परिस्थिति ही उत्पन्न नहीं होगी। इस स्थिति में मानसिक स्थिरता अपने आप हो जाती है।

निर्जरा भावना

विजातीय द्रव्य संचित होता है तब शरीर अस्वस्थ बनता है। उसके निकल जाने पर शरीर स्वयं स्वस्थ बन जाता है। बाहरी संचय का निस्सरण होने पर मानसिक चंचलता के हेतु अपने आप समाप्त हो जाते हैं। निर्जरा का हेतु तपस्या है। जो साधक तपस्या का अर्थ नहीं जानता वह ध्यान का मर्म नहीं जान सकता।

धर्म भावना

क्षमा आत्मा का सहज परिणमन है। निमित्त मिलता है, क्रोध उभर आता है किन्तु कोई भी आदमी प्रतिक्षण क्रोध नहीं करता और कर भी नहीं सकता। क्षमा प्रतिक्षण की जा सकती है क्योंकि वह उसका सहज रूप है।

ऋजुता हर क्षण में हो सकती है किन्तु माया का आचरण हर क्षण में नहीं होता। धर्म की भावना का अर्थ है—आत्मा के स्वाभाविक रूप

की रात है। जब-जब स्मृति आती है, तब-तब मानसिक चुभन प्रखर हो उठती है। दूसरे को शत्रु मानने वाला, जिसको वह शत्रु मानता है, उसका अनिष्ट वह कर पाता है या नहीं कर पाता किन्तु अपना अनिष्ट अवश्य कर लेता है। मैत्री की भावना का यह प्रबल आधार है। शत्रु की याद आते ही मानसिक प्रसन्नता विषाद में बदल जाती है। इसलिए समझदार व्यक्ति किसी को शत्रु मानकर अपने मन को कलुषता के दल दल में कैसे फंसाना चाहेगा?

सबके प्रति आत्मीय या पारिवारिक भावना होने पर मन प्रफुल्ल रहता है। उसे किसी से भी भय नहीं होता। शत्रुता और भय मैत्री और अभय—ये दो युगल हैं। जिसका मन भय से भरा होता है वही दूसरे को शत्रु मानता है। जिसके मन में कोई भय नहीं होता वह अनिष्ट करने वाले को अज्ञानी मान सकता है किन्तु शत्रु नहीं मानता। सब जीवों के हित चिन्तन का बार-बार अभ्यास करने से मैत्री का संस्कार पुष्ट होता है।

प्रमोद भावना

ईर्ष्या उस व्यक्ति के मन में पैदा होती है जिसे आत्मिक समानता में विश्वास नहीं होता। जो मानता है कि हर आत्मा समान है, हर आत्मा में अनन्त ज्ञान अनन्त दर्शन अनन्त आनन्द और अनन्त शक्ति है, हर आत्मा को विकास करने का अधिकार है और हर आत्मा उसका विकास कर सकती है वह व्यक्ति दूसरे का विकास देखकर ईर्ष्यालु नहीं होता किन्तु प्रसन्न होता है। ईर्ष्या नास्तिकता का चिह्न है। क्या आत्म निष्ठ व्यक्ति आत्म विकास पर एकाधिकार मान सकता है?

दूसरे के विकास को नकारने का अर्थ गुणों की श्रेष्ठता को नकारना है। यदि गुणों की अच्छाई में हमारा विश्वास है तो वे किसी में भी प्रकट क्यों न हों हमारे लिए अभिनन्दनीय हैं। इस चिन्तन की पुष्टि से मानसिक

६ निर्विष्ट और अनवच्छिन्न बन जाता है।

जैसे—

१ क्रोध से क्षमा
२ अभिमान से विनय
३ माया से मैत्री
४ लोभ से सन्तोष

इन्हें बल प्रयोग से नहीं मिटाया जा सकता। इन पर विजय पाने के लिए प्रतिपक्ष भावना का आलम्बन लेना उपयोगी होता है। उपशम (शान्ति) की भावना को पुष्ट करने—उपशम के विचार को बार-बार दोहराने से क्रोध सहज ही नष्ट हो जाता है। इसी प्रकार मृदुता की भावना को पुष्ट करने से अभिमान, ऋजुता की भावना को पुष्ट करने से माया और सन्तोष की भावना को पुष्ट करने से लोभ सहज ही विनष्ट हो जाता है।

भावना का अभ्यास निम्न निर्दिष्ट प्रक्रिया से करना इष्ट सिद्धि में अधिक सहायक हो सकता है। साधक पद्मासन आदि किसी सुविधाजनक आसन में बैठ जाए। पहले श्वास को शिथिल करे, फिर मन को शिथिल करे। पांच मिनट तक उन्हें शिथिल करने के लिए सूचना देता जाए। वे जब शिथिल हो जाएं तब उपशम आदि पर मन को एकाग्र करे। इस प्रकार निरन्तर आधा घंटा तक अभ्यास करने से पुराने संस्कार विलीन हो जाते हैं और नए संस्कारों का निर्माण होता है। इस प्रकार का अभ्यास वैयक्तिक रूप में भी किया जा सकता है और सामूहिक रूप में भी कराया जा सकता है।

२२ शरीर-गण-उपधि-भक्तपान-कषायाणां विसर्जनं व्युत्सर्गः ॥
२३ ध्यानाय शरीर-व्युत्सर्गः ॥
२४ विशिष्ट साधनाय गण-व्युत्सर्गः ॥
२५ लाघवाय उपधि-व्युत्सर्गः ॥
२६ ममत्वहानये भेदज्ञानाय च भक्तपान-व्युत्सर्गः ॥
२७ सहजानन्दलब्धये कषाय-व्युत्सर्गः ॥

२२. शरीर, गण, उपधि, भक्त-पान और कषाय का विसर्जन करने को व्युत्सर्ग कहा जाता है।

२३. ध्यान के लिए शरीर का व्युत्सर्ग किया जाता है। उसे स्थिर, शिथिल, निश्चेष्ट और निष्क्रिय कर देने पर उसका भान नहीं होता और तनाव समाप्त हो जाता है।

२४ विशिष्ट साधना के लिए गण का व्युत्सर्ग किया जाता है। जो विशिष्ट ज्ञान, दर्शन और चारित्र सम्पन्न हों, विशिष्ट शरीरबल सम्पन्न हों तथा गुरु द्वारा अनुज्ञात हों, वे ही व्यक्ति अकेले रहकर विशिष्ट साधना करने के अधिकारी हैं।

२५. लाघव (हल्कापन) के लिए उपधि—वस्त्र आदि उपकरणों का त्याग किया जाता है। बाह्य-उपधि जितने अधिक त्यक्त होते हैं, उतनी ही लघुता बढ़ती है और वे जितने अधिक होते हैं, उतना ही भार बढ़ता है।

२६. ममत्व की हानि तथा भेदज्ञान के लिए आहार-पानी का त्याग किया जाता है। शरीर जो है, वह मैं नहीं हूं, और मैं जो हूं, वह शरीर नहीं है—ऐसा भेदज्ञान होने से ममत्व की हानि होती है और ममत्वहीन होने से आत्मशक्ति का विकास होता है। भक्त-पान का त्याग उसके विकास में बहुत सहायक है।

२७ सहज आनन्द या वीतराग भाव की प्राप्ति के लिए कषाय का त्याग किया जाता है। कषाय के द्वारा आत्मा का सहज आनन्द विकृत हो जाता है। उसकी प्राप्ति कषाय दूर होने पर ही होती है।

व्युत्सर्ग

विसर्जन साधना का रहस्य है। जो विसर्जन के महत्त्व को नहीं जानता, वह साधना के मर्म को नहीं जानता। अहंकार और ममकार—ये

दोनों साधना के बाधक तत्त्व हैं। साधक की पहली कसौटी है—अहंकार और ममकार से मुक्त होना।

शरीर-व्युत्सर्ग

ममकार का मूलबीज शरीर है। साधना की पहली कक्षा है—शारीरिक ममत्व का विसर्जन। शारीरिक ममत्व को विसर्जित किए बिना शरीर के भीतर अवस्थित चेतन सत्ता की अनुभूति नहीं हो सकती। दीप शिखा पर जैसे आवरण पड़ा है, उसी प्रकार शरीर और उसके सहचारी मन और प्राण के द्वारा चैतन्य की शिखा ढकी पड़ी है। शरीर की चपलता और ममत्व का जैसे जैसे विसर्जन होता है वैसे वैसे हमारी अभिमुखता चैतन्य की ओर होती है। ध्यान का लक्ष्य है—चैतन्य की उपस्थिति का सतत अनुभव करना। उसके लिए शरीर की चपलता और ममत्व, ये दोनों त्याज्य हैं।

गण-व्युत्सर्ग

साधक अकेले न रहे या संघ में? इस प्रश्न का भगवान् महावीर ने अनैकान्तिक उत्तर दिया है। भगवान् ने कहा—साधना गांव में भी हो सकती है और अरण्य में भी हो सकती है और वह गांव में भी नहीं हो सकती और अरण्य में भी नहीं हो सकती। जिस व्यक्ति में आत्माभिमुखता की तीव्रता नहीं है उसके लिए अरण्य भी गांव जैसा है और जिस व्यक्ति में आत्माभिमुखता की तीव्रता है उसके लिए गांव भी अरण्य जैसा है। इसी प्रकार आत्माभिमुख व्यक्ति संघ में रहकर भी अकेला रह सकता है। वह जंगल में रहकर भी सांसारिक अवलेपन का अनुभव नहीं कर पाता।

तत्त्व विचार की भूमिका में उक्त चिंतन की यथार्थता को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। किन्तु मनुष्य की यह कठिनाई [illegible] कि वह पहले ही [illegible] में तत्त्व चिन्तन और व्यवहार की भूमिका [illegible] उस स्थिति [illegible] सघीय जीवन में व्यावहारिक [illegible] उभर आती हैं। उसमें विभिन्न रुचियां, संस्कार [illegible] मा

होते हैं। वे सामान्य साधना में विक्षेप डालते भी हैं या नहीं भी डालते। किन्तु उसकी विशिष्ट प्रक्रियाओं व प्रयोगों में वे साधक नहीं होते। इसीलिए साधना की विशिष्ट प्रक्रियाओं का अभ्यास करने वाला व्यक्ति संघीय जीवन से मुक्त होकर चलता है।

दूसरों के लिए कुछ करना बहुत बड़ी बात है और केवल अपने लिए करना स्वार्थ है, इस सत्य की अस्वीकृति नहीं की जा सकती। किन्तु इस सत्य पर भी आवरण नहीं डाला जा सकता कि संघमुक्त साधना करने का सम्बन्ध प्रयोजन से नहीं, पद्धति से है। एकान्त में साधना करने वाले का प्रयोजन अपने लिए और दूसरों के लिए इन दोनों की समष्टि से व्याप्त है। वह केवल स्वार्थ ही नहीं है, किन्तु जैसे एक विद्यार्थी, कवि, लेखक या वैज्ञानिक को अपने कार्य के लिए शान्त—नीरव स्थान की अपेक्षा होती है, वैसे ही आत्मानुभूति की गहराई में पैठने वाले साधक को एकान्त की अपेक्षा होती है। शान्त सरोवर में कोई ढेला न फेंके, इस दृष्टि से उसे अकेला रहना आवश्यक होता है। प्रायोगिक काल में अकेलेपन की उपयोगिता समझ में आती है। सत्य उपलब्ध होने पर संघ या अकेलेपन का कोई भेद नहीं होता।

उपधि और भक्तपान व्युत्सर्ग

पदार्थों का संग्रह और उनका ममत्व ये दोनों अन्तरानुभूति के विघ्न हैं। पदार्थ स्वतः विघ्न नहीं हैं किन्तु उनका संग्रह लोभ या भय के कारण होता है, इसलिए वह विघ्न हो जाता है। ममत्व के बिना संग्रह होता ही नहीं और जहां ममत्व होता है वहां अन्तरानुभूति का स्थान बाह्यानुभूति ले लेती है। उस स्थिति में साधक की चेतना मूर्च्छा से बोझिल बन जाती है। मूर्च्छा का विसर्जन अर्थात् संग्रह का विसर्जन। यह विसर्जन की प्रक्रिया आगे बढ़ते-बढ़ते पदार्थों के पूर्ण त्याग तक पहुंच जाती है। भोजन के बिना शरीर का निर्वाह नहीं हो सकता, किन्तु इस प्रक्रिया में उसका भी आंशिक त्याग प्राप्त होता है और एक बिन्दु आने पर सदा के लिए भोजन का विसर्जन कर दिया जाता है। दैहिक ममत्व

का विसर्जन करने के लिए ऐसा करना बहुत आवश्यक है।

ममत्व विसर्जन हो जाए फिर संग्रह विसर्जन की क्या आवश्यकता है? इस चिन्तन का बाह्य जितना सुन्दर है उतना अन्तस् यथार्थ नहीं है। ममत्व विसर्जन की कसौटी असंग्रह है। संग्रह है और ममत्व नहीं है, यह सामान्य स्थिति नहीं है। संग्रह नहीं होने पर ममत्व नहीं होता यह व्याप्ति भी नहीं है। इन दोनों रेखाओं के मध्य में जो देखा जा सकता है वह इतना ही है कि ममत्व विसर्जन के लिए संग्रह का विसर्जन किया जाए और संग्रह विसर्जन की यथार्थता के लिए ममत्व विसर्जन का अभ्यास किया जाए।

क्या कोई शरीरधारी ऐसा हो सकता है जो शरीर को धारण करे और उसकी मांग को पूरा न करे? भोजन शरीर की अत्यावश्यक मांग है। उसे पूरा करना साधक के लिए भी अनिवार्य है। एक ओर शरीर की मांग को पूरा करने का प्रश्न है तो दूसरी ओर उसके ममत्व (देहाध्यास) के विसर्जन का प्रश्न है। शारीरिक ममत्व का विसर्जन करने के लिए यह आवश्यक है कि साधक शरीर की अपेक्षा को पूरा करे किन्तु जितनी अपेक्षा हो उसे अविकल रूप से पूरा न करे। यह देह और आत्मा के भेदज्ञान की ओर प्रगति होने की व्यावहारिक कसौटी है।

कषाय-व्युत्सर्ग

अनुकूल स्थिति और इष्ट वस्तु का योग होने पर मनुष्य को सुख की अनुभूति होती है। प्रतिकूल परिस्थिति और अनिष्ट का योग होने पर उसे दुःख का अनुभव होता है। साधारण मनुष्य इसी सुख-दुःख के चक्र में परिभ्रमित रहता है। सुख के आगे आनन्द नाम की कोई वस्तु है यह प्रश्नचिह्न भी उसके मन में नहीं उभरता। प्रतिकूल परिस्थिति और अनिष्ट के योग में भी मनुष्य के आनन्द का प्रवाह अविच्छिन्न रह सकता है यह कल्पना सामान्यतः नहीं हो सकती। किन्तु आनन्द उसी स्थिति का नाम है जो बाह्य के संयोग या वियोग के आधार पर घटित नहीं

होती।

हर मनुष्य के अन्तस् की गहराई में आनन्द की असीम धारा प्रवाहित होती है किन्तु प्राणिक और मानसिक आवरणों से वह आच्छन्न है। मोह (कषाय) की राख से उसके अस्तित्व की लौ ढकी हुई है, इसलिए उसका होना, नहीं होने जैसा है।

ध्यान आदि के अभ्यास से प्राणिक और मानसिक आवरण का विघटन करना काफी प्रयत्न-साध्य है। आत्मानुभूति की गहराई होने पर प्राणिक और मानसिक आवरण विच्छिन्न हो जाते हैं। आत्मानुभूति की गहराई जब निरन्तर हो जाती है, उस समय मोह की ग्रन्थि भी खुल जाती है और मनुष्य सहज आनन्दानुभूति के रस में परिप्लावित हो जाता है।

चौथा प्रकरण

१ स्वरूपसंबोधिजिज्ञासुर्ध्याता ॥

२ आरोग्यवान् दृढसंहननो विनीतोऽकृतकलहो रसाप्रतिबद्धोऽप्रमत्तोऽनलसश्च ॥

३ मुमुक्षु संवृतश्च ॥

४ स्थिराशयत्वमस्य ॥

१ जिस व्यक्ति में स्वरूप जिज्ञासा—अपना मौलिक रूप जानने की भावना होती है वही ध्याता—ध्यान का अधिकारी होता है।

२ ध्यान का अधिकारी वही हो सकता है जो आरोग्यवान् हो दृढ शरीर वाला हो विनीत हो उपशान्त-कलह हो, रस लोलुप न हो, अप्रमत्त हो और आलसी न हो। इसका तात्पर्य यह है कि रोग शरीर-दुर्बलता अविनय कलह रसलोलुपता प्रमाद और आलस्य—ये ध्यान की साधना के विघ्न हैं। मन को अनुशासित वही कर सकता है जो इनसे बचे।

३ वही व्यक्ति ध्यान का अधिकारी होता है, जो मुमुक्षु और संवृत है। जिसमें मुक्त होने की इच्छा होती है, वह मुमुक्षु कहलाता है। जिसमें संवरण की क्षमता होती है वह संवृत होता है।

४ ध्यान के द्वारा ध्याता का आशय स्थिर हो जाता है—चित्त

की चंचलता दूर हो जाती है।

ध्यान की योग्यता

किसी एक बिन्दु पर एकाग्र होना, विचारों को एक ही दिशा में प्रवाहित करना या विचारातीत होना सरल कार्य नहीं है। इन सबके लिए शारीरिक और मानसिक विकास की अपेक्षा होती है। शारीरिक चंचलता को विसर्जित किए बिना क्या कोई व्यक्ति ध्यान का अधिकारी बन सकता है? मानसिक अभ्यास को पुष्ट किए बिना क्या कोई ध्यान का अधिकारी बन सकता है? ध्यान की पहली योग्यता है—स्वरूप की जिज्ञासा। जो दृश्य है—वह स्वरूप नहीं है। अपना अस्तित्व नहीं है। जो निजी अस्तित्व है वह बहुत सूक्ष्म है और सूक्ष्म होने के कारण वह चरम चक्षु द्वारा दृश्य नहीं है। उसे देखने की उत्कट आकांक्षा हुए बिना वह दिखाई भी नहीं देता।

प्रारम्भ में ध्यान बहुत सरस नहीं लगता। स्थूल प्रवृत्ति को छोड़कर निष्क्रिय मुद्रा में बैठ जाना अच्छा लग भी कैसे सकता है? किन्तु ऐसा वही कर सकता है जिसके मन में इस स्थूल शरीर के भीतर छिपे हुए सूक्ष्म परमतत्त्व को जानने की उत्कट आकांक्षा प्रकट हो जाती है।

निशाना साधने में भी एकाग्रता होती है। प्रिय का वियोग होने पर उसे पाने और अप्रिय का संयोग होने पर उसे दूर करने के लिए भी मन एकाग्र बनता है, किन्तु उस एकाग्रता से चित्त निर्मल नहीं होता। फलतः उससे परमतत्त्व प्रकाशित नहीं होता। उसे प्रकट करने के लिए चित्त की निर्मलता आवश्यक होती है और चैत्तिक निर्मलता के लिए अपने दोषातीत अस्तित्व पर चित्त को केन्द्रित करना आवश्यक होता है। इस प्रक्रिया में स्वरूप की जिज्ञासा ध्यान का पहला सोपान है।

स्वरूप की जिज्ञासा के प्रबल होने पर साधक में दो विशेष गुण विकसित होते हैं :

१. मुमुक्षा २. जवृतत्व

मुमुक्षा का अर्थ है—उन सारी प्रवृत्तियों से मुक्त होने की इच्छा, जो स्वरूप की उपलब्धि में बाधक बनती है। दूसरे शब्दों में वह स्वतन्त्रता जो परिस्थिति आदि से भी प्रताडित नही होती। यह (मुमुक्षा) जितनी सघन होती है उतनी ही ध्यान की क्षमता बढती है। इसलिए ध्याता का मुमुक्षु होना जरूरी है।

संवृतत्व का अर्थ है—इन्द्रिय और मन की अन्तर्मुखी प्रवृत्ति। उनकी बहिर्मुखी प्रवृत्ति रहती है तब तक साधक वैषयिक सुखो से विरक्त नहीं होता। वैषयिक सुखो की अनुरक्ति होना ध्यान के लिए अनुकूल नही है। इसलिए ध्याता का संवृत होना जरूरी है।

स्वरूप की जिज्ञासा होने पर भी ध्यान की सफलता पाना निश्चित नही है। उसके अनेक विघ्न हैं। उनका निरसन किए बिना ध्याता आगे नही बढ सकता। स्थूल दृष्टि के अनुसार ध्यान के विघ्नों का वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है

१ रोग
२ शारीरिक संहनन (अस्थि रचना) की दुर्बलता
३ उद्दण्ड मनोभाव
४ शंकालु मनोवृत्ति
५ खाद्य-संयम का अभाव
६ प्रमाद (विस्मृति)
७ आलस्य

इन विघ्नो म कुछ शारीरिक हैं और कुछ मानसिक। शारीरिक विघ्नो को आसन प्राणायाम आदि के अभ्यास द्वारा निरस्त किया जा सकता है और मानसिक विघ्नों को दूर करने के लिए सतत जागरूक रहना जरूरी है। अपने स्वरूप के प्रति जागरूक रहना ध्यान का प्रथम या अन्तिम उपाय है अथवा यही ध्यान है।

हम ध्यान की उपयोगिता को कभी अस्वीकार कर देते यदि उसके द्वारा चित्त की स्थिरता प्राप्त नहीं होती। एक सीमा तक चित्त की

चचलता सह्य होती है, किन्तु उसकी चचलता पर कोई नियत्रण नही होता तब वह आगे से आगे बढती जाती है। एक दिन उसका बढना असह्य हो उठता है। यही मानसिक अशान्ति है। इसके निवारण का उपाय या मानसिक शान्ति का उपाय है—चचलता की मात्रा को फिर से कम करना। यह कार्य ध्यान के द्वारा ही किया जा सकता है।

५. ईषदवनतकायो निमीलितनयनो गुप्तसर्वेन्द्रियग्रामः सुप्रणिहितगात्रः प्रलम्बितभुजदण्डः सुश्लिष्टचरणः पूर्वोत्तराभिमुखो ध्यायेत् ॥

६. पद्मासनादिषु निषण्णो वा ॥

५. ध्यान करने वाला व्यक्ति शरीर को आगे की ओर थोडा-सा झुकाकर, नेत्रो को मूदकर, इन्द्रियो को विषयो से निवृत्त कर, शरीर को सुस्थिर व शिथिल बनाकर बाहो को घुटनो की ओर प्रलम्बित कर, पैरो की एडियो को परस्पर मिलाकर पूर्व या उत्तर दिशा की ओर मुह कर ध्यान करे।

६ अथवा पद्मासन आदि लगाकर ध्यान करना चाहिए।

ध्यान-मुद्रा

ध्यान की परिपक्वता होने के पश्चात् चाहे जिस मुद्रा मे ध्यान किया जा सकता है, किन्तु जब तक उसका अभ्यास परिपक्व नही होता तब तक कुछ निश्चित मुद्राओ मे बैठकर ध्यान करना उपयोगी होता है।

ध्यान खडे होकर भी किया जा सकता है और बैठकर भी किया जा सकता है। खडे होकर ध्यान करने की मुद्रा को कायोत्सर्ग कहा जाता है। उसका निरूपण शारीरिक और मानसिक सम्बन्ध के आधार पर किया गया है। प्रस्तुत मुद्रा मे मुख्य बातें ये हैं

१ शरीर का आगे की ओर थोडा-सा झुका हुआ होना।
२ आंखों को मूदना या अधमुदी रखना।
३ इन्द्रियो का सयम करना।
४. शरीर को स्थिर रखना।

५ भुजाओं को लटकाकर घुटने से सटाए रखना।
६ परों की एड़ियों को सटाए व दोनों पंजों के बीच चार अंगुल का अन्तर रखना।
७ पूर्व या उत्तर दिशा के अभिमुख होना।

ध्यानकाल में शरीर सीधा होना चाहिए। यह ध्यान का सामान्य नियम है। आगे की ओर थोड़ा झुकने का अर्थ उस नियम का अतिक्रमण नहीं है। मानसिक एकाग्रता के साथ श्वास का गहरा सम्बन्ध है। पैरों और गले को थोड़ा आगे झुकाने से श्वास के समीकरण की सुविधा होती है। इस दृष्टि से इसका बहुत महत्त्व है।

मानसिक एकाग्रता के लिए आंखों का संयम होना अत्यन्त अनिवार्य है। चंचलता की वृद्धि में उनका बहुत बड़ा योग है। आंखें मूंद लेने पर चाक्षुष एकाग्र हो जाता है। उन्हें अधखुला भी रखा जा सकता है। नासाग्र या किसी बिन्दु पर एकाग्र किया जाए तो उन्हें खुला भी रखा जा सकता है। ध्यान में केवल चाक्षुष एकाग्र ही अपेक्षित नहीं किन्तु सभी इन्द्रियों का एकाग्र होना आवश्यक है। इसी तथ्य को ध्यान में रखकर ध्याता के लिए सर्वेन्द्रिय-संयम मुद्रा का निर्देश किया गया है।

शरीर की स्थिरता मन की स्थिरता का आधार है। इस दृष्टि से शरीर का सुप्रणिधान करना बहुत उपयोगी है। प्रणिधान निर्मलता और स्थिरता के द्वारा प्रकट होता है। शरीर की निर्मलता नाड़ी शोधन के द्वारा प्राप्त होती है और उसके होने पर ही वाञ्छनीय स्थिरता प्राप्त होती है।

नाड़ी शोधन के लिए समवृत्ति प्राणायाम बहुत उपयोगी है। दिन रात में तीन या चार बार समवृत्ति प्राणायाम करने तथा प्रत्येक बार में ७० से ८० तक की पुनरावृत्ति तक पहुंच जाने पर नाड़ी शोधन हो जाता है।

खड़े होकर ध्यान किया जाता है तब मुद्रा का समन्वित होना आवश्यक है। बायां अंजलि पर दायीं अंजलि टिका तथा दोनों अंजलियों

को नाभि से सटाकर भी ध्यान किया जाता है, किन्तु खडे होकर किए जाने वाले ध्यान मे अधिकाशतया प्रलम्बित भुजा की पद्धति ही प्रचलित रही है। इसका हृदय यही होना चाहिए कि ध्यानकाल मे प्रवाहित होने वाले शक्ति तरग शरीर के बाहर न जाकर पुन उसमे ही समाहित हो जाए।

दोनो पैर परस्पर सटे हुए होने चाहिए। दोनो एडिया भी सटी हुई होनी चाहिए किन्तु पजो के बीच मे चार अगुल का अन्तर रहना आवश्यक है। इसमे लम्बे समय तक स्थित मुद्रा मे अभ्यास करने मे सुविधा होती है। शिथिलता या स्थिरता प्राप्त करने मे अधिक कठिनाई नही होती।

हमारा जगत् सक्रमणशील है। इसमे वस्तु एक देश से दूसरे देश मे सक्रान्त होती है और उससे दूसरे द्रव्य प्रभावित होते है। सौर जगत् से जो परमाणु-प्रवाह आता है, उससे मनुष्य प्रभावित होता है। देश और काल मे दोनो माध्यम उसके प्रभावित होने मे योग देते है। जैसे विभिन्न महीनो मे आने वाला सौर जगत् का प्रवाह मनुष्य के विभिन्न अगो को प्रभावित करता है, वैसे ही विभिन्न दिशाओ से आने वाला सौर प्रवाह भी मनुष्य के विभिन्न अगो और चैतन्य केन्द्रो पर भिन्न-भिन्न प्रभाव डालता है। ध्यान के लिए पूर्व और उत्तर दिशा से आने वाले सौर जगत् के तत्त्व-प्रवाह अधिक अनुकूल होते है। इसीलिए ध्याता को पूर्व और उत्तर दिशा की ओर मुह कर ध्यान करने का निर्देश दिया गया है।

खडे होकर ध्यान करना कठिन कार्य है। बैठकर ध्यान करना उससे सरल है। इसमे शारीरिक तनाव का विसर्जन अधिक सरलता से किया जा सकता है। बैठकर किए जाने वाले पद्मासन आदि अनेक आसन है। वे सभी आसन ध्यान के लिए विहित हैं। किन्तु वैसे आसनो मे ध्यान करना विहित नही है जो शरीर के लिए कष्टकर हो। इस विषय मे कुछ आचार्यो का चिन्तन बहुत महत्त्वपूर्ण है। उन्होने लिखा है कि वर्तमान मे शरीर का सहनन बहुत दृढ नही है। इसलिए ध्यान के लिए पद्मासन और कायोत्सर्गासन—इन दो ही आसनो का उपयोग करना चाहिए। यह

कोई नियम नहीं है किन्तु वर्तमान की स्थिति का विवेक है।

ध्यान सोकर भी किया जा सकता है। उसका व्यवहार सामान्यतः प्रचलित नहीं है किन्तु सोकर ध्यान न करना ऐसा नियम भी नहीं है। अभ्यासकाल में आसन आदि पर अधिक ध्यान देना आवश्यक होता है। अभ्यास के परिपक्व होने पर चाहे जिस मुद्रा या आसन में ध्यान किया जा सकता है।

७ ग्रामागार-शून्यगृह-श्मशान-गुहोपवन-पर्वत-तरुमूल-पुलिनानि ध्यान स्थलानि॥

८ भूपीठ-शिलापट्ट-काष्ठपट्टान्युपवेशनस्थानानि॥

७ गाँव, घर, शून्यगृह, श्मशान, गुफा, उपवन, पर्वत, वृक्षमूल, नदी का पुलिन आदि ध्यान करने के लिए उपयुक्त स्थल हैं।

८ भूपीठ, शिलापट्ट, काष्ठपट्ट—ये बैठने के लिए उपयुक्त आसन हैं। ध्यान के आसन पहले बताए जा चुके हैं।

ध्यान-स्थल

ध्यान कहाँ किया जाए? इस प्रश्न का भी अपने आप में महत्त्व है। वस्तु का जैसे महत्त्व होता है वैसे ही उसके क्षेत्र (आधार स्थल) का भी महत्त्व होता है। ध्यान के लिए सर्वाधिक समुचित क्षेत्र वही है जहाँ कोलाहल न हो। एकाग्र होने में बाधा डालने वाली कोई भी वस्तु न हो। शून्यगृह, श्मशान आदि स्थलों का चुनाव इसी दृष्टि से किया गया है। किन्तु ध्यान एकान्त स्थलों में ही किया जाए, यह अनिवार्य नहीं है। वह गाँव, जनाकुल घर में भी किया जा सकता है। उपवन आदि का चुनाव इसलिए किया गया कि उनमें पर्याप्त प्राणवायु प्राप्त हो सके।

स्थल के सम्बन्ध में कोई निश्चित रेखा नहीं खींची जा सकती किन्तु उसके विषय में इतना ही निर्देश किया जा सकता है कि वह नीरव, प्रशान्त और प्राणवायु से परिपूर्ण होना चाहिए। स्थल न

में एक विशेष बात ध्यान देने योग्य है। वह यह है कि ध्यान एक निश्चित स्थान में किया जाए तो उसकी सिद्धि शीघ्र होती है।

दूसरी बात यह है कि विचार सक्रमणशील होते हैं। एक मनुष्य के विचारों का दूसरे मनुष्य के विचारों पर असर होता है। बुरे विचारों का सक्रमण न हो, इस दृष्टि से ध्यान-स्थल का एकान्त होना आवश्यक है।

ध्यानोचित आसन

ध्यानकाल में बैठने के आसनों का भी बहुत महत्त्व है। मृत्तिका, शिलाखण्ड और काष्ठ—ये शरीर के तापमान को सन्तुलित और स्थिर बनाए रखते हैं और विजातीय तत्त्वों के प्रभाव से बचाते हैं, इसलिए इनका विशेष महत्त्व है। सात्त्विक वस्त्रासन भी ध्यानकाल में उपयोग में लाए जाते हैं।

९ सालम्बन-निरालम्बनभेदात् ध्यानं द्विधा ॥

१० पिण्डस्थ-पदस्थ-रूपस्थ-रूपातीतभेदाद्वा चतुर्धा ॥

११. शरीरालम्बि पिण्डस्थम् ॥

१२. शिरो-भ्रू-तालु-ललाट-मुख-नयन-श्रवण-नासाग्र-हृदय-नाभ्यादि शरीरालम्बनानि ॥

१३. धारणालम्बनं च ॥

१४. ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धो धारणा ॥

१५ पार्थिवी-आग्नेयी-मारुती-वारुणीति चतुर्धा ॥

१६ स्वाधारभूतानां स्थानानां बृहदाकारस्य वैशद्यस्य च विमर्श ॥

१७ तत्रस्थस्य निजात्मनः सर्वसामर्थ्योद्भावनं पार्थिवी ॥

१८ नाभिकमलस्य प्रज्वलनेन अशेषदोषदाहचिन्तनमाग्नेयी ॥

१९ दग्धमलापनयनाय चिन्तनं मारुती ॥

२०. महामेघेन तद्भस्मप्रक्षालनाय चिन्तनं वारुणी ॥

२१ श्रुतालम्बि पदस्थम् ॥

२२. सस्थानालम्बि रूपस्थम् ॥

२३ सर्वमलापगतज्योतिर्मयात्मालम्बि रूपातीतम् ॥

२४ तन्मयत्वमेवास्य स्वाध्यायात् वैलक्षण्यम् ॥

९ ध्यान के दो प्रकार हैं
   १ सालम्बन—आलम्बन सहित।
   २ निरालम्बन—आलम्बन रहित।

१० सालम्बन ध्यान के चार प्रकार हैं
   १ पिण्डस्थ
   २ पदस्थ
   ३ रूपस्थ
   ४ रूपातीत

११ जिस ध्यान में शरीर के किसी अवयव का आलम्बन लिया जाता है वह पिण्डस्थ कहलाता है।

१२ सिर, भ्रू, तालु, ललाट, मुंह, नेत्र, कान, नासाग्र, हृदय और नाभि—ये शारीरिक आलम्बन हैं।

१३ धारणा का आलम्बन लेने वाले ध्यान को भी पिण्डस्थ कहा जाता है।

१४ चित्त को किसी एक देश में सन्निविष्ट करने को धारणा कहा जाता है।

१५ धारणा के चार प्रकार हैं
   १ पार्थिवी
   २ आग्नेयी
   ३ मारुती
   ४ वारुणी

१६ आसनस्थित होकर मेरे आधारभूत स्थान (समुद्र, पर्वत आदि) विशाल और विशद हैं—ऐसा अनुभव करना चाहिए।

१७ फिर उन पर अपने को स्थित मानकर अपने सर्वशक्ति सम्पन्न वीतराग स्वरूप की अनुभूति करनी चाहिए। अनुभूति को पुष्ट करते-करते चित्त उसी में विलीन हो जाना चाहिए। यह पार्थिवी धारणा है।

१८ नाभिकमल प्रज्वलित होने के कारण सब दोष दग्ध हो रहे है—इस अनुभूति को आग्नेयी धारणा कहा जाता है।

नाभिकमल स्थित त्रिकोण अग्निकुण्ड मे अग्नि प्रज्वलित हो रही है, उसमे सारे दोष भस्म हो रहे हैं—ऐसी धारणा करते-करते चित्त उसमे लीन हो जाना चाहिए।

१९ नाभिकमल मे दोषो के जलने से जो भस्म होती है, उसे तेज वायु का झोका उडाकर ले जा रहा है—ऐसा चिन्तन करना मारुती धारणा है।

२० शेष भस्म का प्रक्षालन करने के लिए विशाल मेघराशि की अनुभूति करने को वारुणी धारणा कहा जाता है।

२१ ॐ, ह्री, ह्रँ, णमो अरहताण, अ सि आ उ सा आदि शब्द-मन्त्रो, श्रुत (शब्दो या नामो) का आलम्बन ले जो ध्यान किया जाता है, उसे पदस्थ ध्यान कहा जाता है।

२२ जिस ध्यान मे सस्थान (आकृति विशेष) का आलम्बन लिया जाता है, वह रूपस्थ ध्यान कहलाता है।

२३. सर्वमलातीत ज्योतिर्मय आत्मा के अमूर्तस्वरूप का आलम्बन लेने को रूपातीत ध्यान कहा जाता है।

२४ ध्यान के प्रारम्भ मे स्वाध्याय होता है, चिन्तन होता है, फिर भी ध्यान और स्वाध्याय एक नही है। स्वाध्याय मे विषय की तन्मयता नही होती, समरसीभाव नही होता। ध्यान मे तन्मयता होती है, समरसीभाव होता है। ध्यान करनेवाला चिन्तन करते-करते उसमे लीन हो जाता है, तन्मय हो जाता है। यह तन्मयता या लय ही ध्यान है। इस दशा में ध्येय और ध्याता मे अभेद हो जाता है। परमात्मा के ज्योतिर्मय या आनन्दमय स्वरूप मे लीन होकर ध्याता स्वय वैसा बन जाता है।

ध्यान के प्रकार

ध्यान शब्द की कल्पना करते ही हमारे सामने दो स्थितियां उभर आती हैं

१ मन की एकाग्रता।

२ मन का निरोध।

एकाग्रता निर्विषय नहीं होती। वह किसी वस्तु या अवस्था पर निर्भर होती है। एकाग्रता की तुलना उस बच्चे से की जा सकती है जो माता की अंगुली के सहारे चलने का अभ्यास करता है। निरोध की तुलना उस किशोर से हो सकती है जो अपने पैरों से चलने लग जाता है। पहले कोई परिकल्पना की जाती है फिर उस पर मन को स्थिर किया जाता है, यह एकाग्रता है। इसमें मन की स्थिरता लक्ष्य के सहारे होती है, इसलिए इस एकाग्रतात्मक धर्म को सालम्बन ध्यान कहा जाता है।

मन का निरोध विषय शून्यता की स्थिति में होता है। जब मन खाली हो जाता है, उसके सामने कोई खाली विषय नहीं रहता तब वह अपने आप निरुद्ध हो जाता है। जब मन में कोई कल्पना नहीं होती तब उसके सामने कोई शब्द नहीं होता कोई आकार नहीं होता। शब्द और रूप के अभाव में वह निरालम्बन हो जाता है और निरालम्बन होने का अर्थ है कि उसकी गतिशीलता समाप्त हो जाती है। यही निरालम्बन ध्यान है।

ध्यान के आलम्बन असंख्य हो सकते हैं किन्तु ध्यान की लम्बी परम्परा में साधक मन ने कुछ विशेष अनुभव प्राप्त किए हैं। उनके आधार पर ध्यान के आलम्बनों का वर्गीकरण किया गया है। वह वर्गीकरण ध्यान के प्रकारों का निमित्त बना है।

स्थूल व्यवहार की भाषा में एकाग्रता को हम एक कोटि में रख देते हैं किन्तु सूक्ष्म दृष्टि से उसकी असंख्य कोटियां हैं। एक व्यक्ति एक क्षण में जितना एकाग्र होता है, दूसरे क्षण में उससे अधिक या कम एकाग्र भी हो

सकता है। एक आदमी जितना एकाग्र होता है, दूसरा उससे कम या अधिक भी हो सकता है। इस प्रकार काल-क्रम और व्यक्ति-भेद की दृष्टि से एकाग्रता की असख्य कोटिया हो जाती हैं। इनके आधार पर एकाग्रतात्मक ध्यान के असख्य प्रकार हो जाते है। किन्तु इस सूक्ष्म पद्धति के आधार पर ध्यान की कोटिया निश्चित नही की गई है। उसकी चार कोटिया हैं और और वे आलम्बन के वर्गीकरण के आधार पर निर्धारित की गई हैं। आलम्बन चार रूपो मे वर्गीकृत है

१ पिण्ड (शरीर)	३ रूप (आकार)
२ पद (शब्द)	४ रूपातीत (निराकार)

इनके आधार पर एकाग्रतात्मक ध्यान के चार प्रकार बन जाते है :

१ पिण्डस्थ—पिण्ड के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।

२ पदस्थ—पद के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।

३ रूपस्थ—रूप के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।

४ रूपातीत—अरूप के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।

पिण्डस्थ ध्यान

पिण्डस्थ ध्यान मे शरीर का आलम्बन लिया जाता है। आत्मा और शरीर मे एकत्व नही है, किन्तु उनका सयोग है। आत्मा चेतन है और शरीर अचेतन। अत आत्मा और शरीर स्वरूप की दृष्टि से भिन्न है। शरीर आत्मा की अभिव्यक्ति और प्रवृत्ति मे सहयोग करता है, इसलिए उसमे सर्वथा भेद भी नही है। इस दृष्टि से सशरीर आत्मा न केवल चेतन और न केवल अचेतन है, किन्तु आत्यन्तर है—चेतन और अचेतन का सयोग है। प्राणशक्ति, भाषा, इन्द्रिय और चिन्तन—ये न चेतन के लक्षण हैं और न अचेतन के लक्षण है किन्तु चेतन और अचेतन की समन्वित अवस्था के लक्षण है। आत्मा की ज्ञानात्मक शक्ति और शरीर का पौद्गलिक सहयोग, ये दोनो मिलकर सशरीर आत्मा के अस्तित्व को प्रकट करते हैं।

शरीर के पाच प्रकार हैं

औदारिक—यह अस्थि-मांसमय स्थूल शरीर है।

वैक्रिय—यह अस्थि-मांसरहित स्थूल शरीर है। यह योगी के भी हो सकता है।

आहारक—यह योगज शरीर है। इसे एक स्थान से दूसरे स्थान में प्रेषित किया जा सकता है।

तैजस—यह विद्युत् शरीर है।

कार्मण—यह मूल शरीर या संस्कार शरीर है।

तैजस और कार्मण दोनों सूक्ष्म शरीर हैं।

चैतन्य का विस्तार बाह्य जगत् की ओर होता है तब उसकी गति सूक्ष्म से स्थूल की ओर होती है और जब वह बाह्य जगत् से अन्तर्जगत् में लौटता है तब उसकी गति स्थूल से सूक्ष्म की ओर होती है।

स्थूल शरीर की निष्पत्ति कार्मण शरीर के होने पर होती है इस दृष्टि से यह सब शरीरों का मूल कारण है। स्थूल शरीर भवान्तरगामी नहीं होते। सूक्ष्म शरीर भवान्तरगामी होते हैं। उनमें भी भवान्तरगमन के संस्कार कार्मण शरीर में संचित रहते हैं। इस दृष्टि से यह संस्कार शरीर भी है।

आत्मा का सबसे निकट सम्पर्क कार्मण शरीर से है। आत्मा के चैतन्य और वीर्य सर्वप्रथम इसी में संक्रान्त होते हैं। तैजस शरीर उन्हें स्थूल शरीर तक पहुंचाता है और स्थूल शरीर के द्वारा वे अभिव्यक्त होते हैं। इस प्रकार आत्मा के चैतन्य और वीर्य कार्मणशरीर तैजस शरीर और स्थूल शरीर की क्रमिक प्रक्रिया से बाह्य जगत् तक पहुंचते हैं और वे विपरीत प्रक्रिया से बाह्य जगत् के प्रभाव को आत्मा तक पहुंचाते हैं। बाह्य जगत् का प्रभाव सर्वप्रथम स्थूल शरीर पर होता है। उसे तैजस शरीर कार्मण शरीर तक ले जाता है और कार्मण शरीर के माध्यम से वह आत्मा तक पहुंचता है। इस प्रकार तैजस शरीर प्रेषण के माध्यम का काम करता है। योग के आचार्यों ने तेजोमय आत्मा की परिकल्पना की है। आत्मा की तेजोमयता की परिकल्पना का निमित्त यह तैजस शरीर ही है।

कार्मण और तैजस शरीर सूक्ष्म शरीर है, इसलिए उनके अवयव नही है। वे अवयव विहीन शरीर है। वे स्थूल शरीर के अवयवो मे परिव्याप्त हैं। साधारणतया वे समूचे शरीर मे परिव्याप्त है किन्तु शरीर के कुछ भागो मे वे विशेष रूप से केन्द्रित है। ये केन्द्रित भाग चैतन्य की अभिव्यक्ति के मुख्य केन्द्र हैं। पिण्डस्थ ध्यान मे इन्ही केन्द्रो पर मन को एकाग्र किया जाता है। चैतन्य की अभिव्यक्ति के शारीरिक केन्द्र ये हैं :

१ सिर	६ नेत्र
२ भ्रू	७ कान
३ तालू	८ नासाग्र
४ ललाट	९ हृदय
५ मुंह	१०. नाभि

इन केन्द्रो पर ध्यान करने से मन की एकाग्रता सरलता से सधती है और आतरिक ज्ञान विकसित होता है।

पिण्डस्थ ध्यान मे चक्रो का आलम्बन भी लिया जाता है।

चक्र

'ससारिणा वीर्य निमित्तापेक्ष'—ससारी जीव की समस्त शक्तियो का उपयोग निमित्त के योग से ही होता है। जीव मे चैतन्य है, किन्तु उसका उपयोग इन्द्रिय-गोलको और ज्ञानवाहक स्नायुगुच्छको के माध्यम से होता है। जीव मे वीर्य है किन्तु उसका उपयोग कर्मेन्द्रियो व क्रिया-तन्तुओ के माध्यम से होता है। ज्ञानवाहक स्नायुगुच्छको का सम्बन्ध सुषुम्नानाडी और पृष्ठरज्जू से है। उन्ही सुषुम्नागत ज्ञानवाही गुच्छको को चक्र कहा गया है। वे ज्ञान की अभिव्यजना के निमित्त हैं, इसलिए उन पर मन को एकाग्र करने से उनमे प्राणधारा प्रवाहित होती है। ज्ञान के सहायक तन्तु सक्रिय हो जाते हैं।

चक्रो के नाम, स्थान आदि यत्र मे देखिए—

नाम	स्थान	दल	वर्ण	दल बीजाक्षर	ज्योति	फल
मूलाधार	गुदा और लिंग का मध्यवर्ती	४	पीत	व, श ष, स	शिखाकार स्वर्णिम ज्योति का ध्यान	अध्यात्म विद्या प्रवृत्ति आरोग्य
स्वाधिष्ठान	देहू	६	सिंदूरी	ब, भ म, य, र ल	बिजली की रेखा का ध्यान	वासनाक्षय ओजस्विता
मणिपूर	नाभि	१०	नील	ड ढ ण, त थ, द, ध, न, प, फ	बाल-सूर्य का ध्यान	आरोग्य आत्म साक्षात्कार ऐश्वर्य
अनाहत	हृदय	१२	अरुण	क ख, ग घ ङ, च छ ज झ ञ ट, ठ	अग्निशिखा का ध्यान	यौगिक उपलब्धियां, आत्मस्थता
विशुद्ध	कण्ठ	१६	धूम्र	अ से अः तक	दीपशिखा का ध्यान	कामना विजय
आज्ञा	भ्रूमध्य	२	श्वेत	ह क्ष	शरच्चन्द्र की ज्योति का ध्यान	अन्तर्ज्ञान, वाक्सिद्धि
सहस्रार	मस्तिष्क	१०	अवर्ण	अ से क्ष तक	प्रचण्ड तेज का ध्यान	मुक्ति

वासना-क्षय की दृष्टि से स्वाधिष्ठान चक्र पर ध्यान करने का बहुत महत्त्व है।

मणिपूर चक्र पर ध्यान करने से शारीरिक आरोग्य बढ़ता है किन्तु उससे कामशक्ति प्रबल होती है, इसलिए ब्रह्मचारी के लिए आवश्यक है कि वह मणिपूर चक्र पर ध्यान करने के पश्चात् प्राणधारा को हृदय चक्र में प्रवाहित कर विशुद्धि चक्र तक ले जाए। उसमें उस कामशक्ति का शोधन हो जाता है।

आज्ञा चक्र या भृकुटि चक्र का बहुत महत्त्व है क्योंकि इस स्थान में इडा, पिंगला और सुषुम्ना तीनों का संगम होता है। इसके जागरण से अन्य चक्रों का जागरण सहज हो जाता है और इसका जागरण अन्य चक्रों की अपेक्षा अधिक कठिन और अधिक अभ्यास-सापेक्ष है।

मूलाधार चक्र से ऊर्जा को ऊर्ध्वगामी बनाया जाता है। उसके ऊर्ध्व-गामी होने से मनुष्य की वृत्ति आन्तरिक हो जाती है। ऊर्जा के ऊर्ध्वीकरण का यह आदि बिन्दु है इसलिए साधना में इसका बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान है।

अनाहत चक्र प्राणवायु का स्थल और ओजस का मुख्यकेन्द्र है—

तत्परस्यौजसः स्थानं तत्र चैतन्यसंग्रहः

—चरक, सूत्रस्थान ३०।७

विकल्प-शून्यता की प्राप्ति के लिए हृदय-चक्र पर ध्यान देना और उसकी गहराई में उतरना बहुत ही उपयोगी है। हृदय-चक्र पर ध्यान करने से ग्रंथि-भेद हो जाता है। उससे आत्म-साक्षात्कार सुलभ हो जाता है

चक्रों पर ध्यान करने से आनतत्तु जागृत होते हैं, किन्तु उन्हें जागृत करने का एकमात्र यही उपाय नहीं है। संयम की प्रखर साधना और प्रबल वैराग्य हो तो चक्रों पर ध्यान किए बिना ही वे जागृत हो जाते हैं।

चित्त को किसी निश्चित देश में स्थिर करना धारणा है। वह शरीर या उसमें भिन्न अन्य वस्तुओं पर की जा सकती है। देहाश्रित धारणाएं पिण्डस्थ ध्यान की कोटि में समाविष्ट होती हैं। धारणा के चार प्रकार हैं:

१ पार्थिवी   ३ मारुती
२ आग्नेयी   ४ वारुणी

इनका सम्बन्ध पार्थिव, तैजस, वायवीय और जलीय तत्त्वों से है। साधक ध्यान करने के लिए बैठे और यदि उसे दैहिक धारणाओं के द्वारा पिण्डस्थ ध्यान का अभ्यास करना हो तो वह सर्वप्रथम किसी विशाल और निर्मल स्थान पर बैठने की अनुभूति करे और उस अनुभूति को इतना पुष्ट बनाए कि उसे प्राप्त अनुभूति में तन्मयता प्राप्त हो जाए। उस विशाल और निर्मल आसन पर स्थित होकर अपने पार्थिव शरीर में असीम शक्ति का अनुचिन्तन करे। यह धारणा की पहली कक्षा—पार्थिवी धारणा है।

आचार्य रामसेन पिण्ड (देह) की सिद्धि और शुद्धि के लिए मारुती, तैजसी और जलीय—इन तीनों धारणाओं को मान्य करते हैं

तत्रादौ पिण्डसिद्ध्यर्थं निर्मलीकरणाय च
मारुती तैजसीमाप्यां विदध्याद् धारणां क्रमात् ॥

—तत्त्वानुशासन—१८३

शरीर में अग्नि का स्थान मणिपुर चक्र या नाभिकेन्द्र है। हमारे तैजस शरीर का मुख्य केन्द्र यही है। इस स्थान में तैजस का दृढ़ और चिरन्तन चिन्तन करने से तैजस शरीर जागृत और अधिक क्रियाशील हो जाता है। दृढ़ संकल्प के द्वारा उसे सक्रिय बनाकर उसके द्वारा समस्त दोषों के क्षय होने का अनुभव किया जाता है। इस प्रकार आग्नेयी धारणा के द्वारा दोषक्षय की क्रिया सम्पन्न की जाती है।

इसके पश्चात् तीसरी कक्षा में मारुती धारणा का उपयोग किया जाता है। पवन का काम सफाई करना है। आग्नेयी धारणा के द्वारा दोषों का दहन होने पर जो भस्म हो जाती है, उसे शरीर से बाहर ले जाने के लिए मारुती धारणा का प्रयोग किया जाता है। समूचे शरीर में चारों ओर से तेज हवा का प्रवेश हो रहा है और वह नाभिकमल स्थित भस्म को उड़ाकर बाहर ले जा रही है। इस प्रकार की तीव्र अनुभूति करते-करते साधक को

आत्मस्थता का अनुभव होने लगता है।

चौथी कक्षा मे अवशेषो की शुद्धि के लिए वारुणी धारणा का उपयोग किया जाता है। मारुती धारणा के द्वारा दोष-भस्म को बाहर ले जाने पर भी जो कुछ शेष रह जाता है, उसे वारुणी धारणा के द्वारा साफ कर दिया जाता है। साधक अनुभव करता है कि गहरे बादल उमड रहे है। घनघोर वृष्टि हो रही है। उसका जल शरीर मे प्रवेश कर नाभिकमल को पखाल रहा है और वह अत्यन्त निर्मल हो रहा है। इस निर्मलता की अनुभूति के साथ अपने आत्मस्वरूप की निर्मलता मे विलीन हो जाए और फिर धारणा से ध्यान की स्थिति मे पहुच जाए।

धारणा के अनेक रूप और प्रकार हो सकते है। इसलिए इसकी व्याख्या भी अनेक रूपो मे की गई है।

पार्थिव द्रव्यो— चित्र, मूर्ति आदि पर चित्त को स्थिर करना पार्थिवी धारणा है।

दीप आदि तेजोमय पदार्थ पर दृष्टि को स्थिर करना आग्नेयी धारणा है।

वायु के स्पर्श या श्वास-प्रश्वास पर मन को स्थिर करना मारुती धारणा है।

जलाशय के तट पर बैठकर शान्त जल पर दृष्टि को स्थिर करना वारुणी धारणा है।

धारणा ध्यान की प्रथम तैयारी है। इसमे चित्त पूर्णत स्थिर नही होता किन्तु वह एक दिशा मे होते-होते ध्यान की पृष्ठभूमि प्रस्तुत कर देता है। फिर साधक धारणा से मुक्त होकर ध्यान की कक्षा मे चला जाता है।

पदस्थ ध्यान

यह ध्यान पदो—मन्त्रो व बीजाक्षरो के आलम्बन मे किया जाता है। पिण्डस्थ ध्यान जैसे देहालम्बी है, वैसे पदस्थ ध्यान शब्दालम्बी है। पिण्डस्थ ध्यान मे देहवर्ती चैतन्य-केन्द्र, देह की अनुप्रेक्षा तथा देह और आत्मा की पृथक्ता—ये मुख्य ध्येय बनते है। पदस्थ ध्यान मे भी शब्द की सूक्ष्म

शक्ति उसके सूक्ष्म और स्थूल उच्चारण की प्रक्रिया और शब्दवर्ती अर्थ के साथ तन्मयता—ये मुख्य ध्येय होते हैं। इस ध्यान के आधार पर ध्यान मंत्रों का पर्याप्त विकास हुआ है।

जप भी शब्दालम्बी होता है और पदस्थ ध्यान भी शब्दालम्बी होता है। ये दोनों किसी रेखा पर भिन्न होते है और किसी रेखा पर अभिन्न हो जाते है। जप का अर्थ है—शब्द की अर्थात्मा में तन्मय हो जाना। पदस्थ ध्यान में भी यही तन्मयता अपेक्षित है।

जप के तीन प्रकार हैं

१ वाचिक

२ उपांशु

३ मानसिक

उच्चारणपूर्वक किया जाने वाला जप वाचिक होता है। मन्द उच्चारण—होठों से बाहर न निकलने वाले उच्चारण के द्वारा जप उपांशु होता है। उच्चारण से अतीत केवल मानसिक चिन्तन के रूप में किया जाने वाला जप मानसिक होता है। वाचिक जप से उपांशु और उपांशु जप से मानसिक जप में शब्द की ऊर्मियां सूक्ष्म होती हैं और सूक्ष्म होने के कारण वे अधिक शक्तिशाली होती है। इसी आधार पर वाचिक की अपेक्षा उपांशु और उपांशु की अपेक्षा मानसिक जप अधिक शक्तिशाली होता है।

जप पदस्थ ध्यान की पूर्वावस्था है। प्रारम्भ में वाचिक जप का अभ्यास करना चाहिए। उसका अभ्यास हो जाने पर उपांशु जप का अभ्यास होना चाहिए। उसके पश्चात् मानसिक जप का अभ्यास करना चाहिए। मानसिक जप की अवस्था जब ध्येय पर एकाग्र हो जाती है तब वह पदस्थ ध्यान के रूप में बदल जाती है। वाचिक जप में पद का उच्चारण स्थूल होता है। उपांशु जप में वह सूक्ष्म हो जाता है। मानसिक जप में वह चिन्तन का आकार ले लेता है। पदस्थ ध्यान में वह दृश्य बन जाता है।

पदस्थ ध्यान के लिए इष्ट मंत्रों का चुनाव अपनी भावना रुचि और

श्रद्धा के आधार पर किया जा सकता है।

रूपस्थ और रूपातीत ध्यान

द्रव्य दो प्रकार के होते हैं—रूपी और अरूपी। आत्मा अरूप है। पुद्गल रूपी है। वह रूपी होने के कारण इन्द्रिय के द्वारा ग्राह्य है। आत्मा का इन्द्रिय के द्वारा इसलिए ग्रहण नहीं होता कि वह अरूप है। ध्यानकाल में ये दोनों प्रकार के द्रव्य ध्येय बनते हैं। रूपी ध्येय स्थूल होता है और अरूप ध्येय सूक्ष्म। इसीलिए साधक प्रारम्भ में रूपी ध्येय का आलम्बन लेता है। उस पर मन की एकाग्रता सध जाने पर वह अरूप ध्येय पर ध्यान का अभ्यास करता है। रूपी ध्येय में परमाणु से लेकर किसी बड़े से बड़े आकार का आलम्बन लिया जा सकता है। वैसे पिण्डस्थ ध्यान भी रूपस्थ ध्यान से भिन्न नहीं है। शरीर स्वयं रूपी है। उस पर ध्यान करना रूपस्थ ध्यान ही है। शब्द भी रूपी है। उन पर ध्यान करना भी रूपस्थ ध्यान है। किन्तु शरीर और शब्द की अपनी विशेषता है, इसलिए उन्हें रूपस्थ ध्यान से पृथक् स्थान दिया गया है। शरीर में चैतन्य की अभिव्यञ्जना होती है, इसलिए बाहरी रूपी ध्येयों की अपेक्षा शरीरगत ध्येय अधिक सफल होता है। शब्द का भी चैतन्य केन्द्र से निकट का सम्बन्ध होता है, इसलिए उसका भी अपना विशेष महत्त्व है। शरीर और शब्द के अतिरिक्त शेष जितने रूपी ध्येय होते हैं, वे सब रूपस्थ ध्येय की कोटि में आते हैं।

रूपातीत ध्यान में अरूप आत्मा का आलम्बन लिया जाता है। हम उसे साक्षात् देख नहीं पाते हैं। शाब्दिक ज्ञान के द्वारा उसके स्वरूप निश्चित कर उस पर मन को एकाग्र करते हैं। रूपातीत ध्यान शाब्दिक भावना के माध्यम से होता है। वह माध्यम निरालम्बन ध्यान की स्थिति में ही छूट सकता है।

आचार्य रामसेन ने रूपस्थ और रूपातीत दोनों को पिण्डस्थ ध्यान माने जाने के अभिमत का उल्लेख किया है। उसका आशय यह है कि ध्येय-अर्थ ध्याता के पिण्ड (देह) से भिन्न होकर ही ध्यान का विषय बनता है, इसलिए चेतन और अचेतन दोनों का ध्यान पिण्डस्थ ध्यान कहलाता है।

> ध्यातुः पिण्डस्थितश्चैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।
> ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन ॥
>
> —तत्त्वानुशासन—१३४

२५ निर्विचारं निरालम्बनम् ॥

२५ निर्विचार (विचारातीत, भावातीत या विकल्पातीत) ध्यान को निरालम्बन कहा जाता है।

निरालम्बन ध्यान

सालम्बन ध्यान का अभ्यास करते-करते मन दीर्घकाल तक एकाग्र होने लग जाता है। एकाग्रता की अन्तिम परिणति विचार शून्यता है। ध्यान के आरम्भकाल में किसी एक लक्ष्य पर चित्त की एकाग्रता होती है और अंत में वह लक्ष्य छूट जाता है। केवल चित्त की स्थिरता रह जाती है। इसीलिए अनेक साधकों का यह अनुभव है कि सालम्बन ध्यान में योग्यता प्राप्त कर लेने पर निरालम्बन ध्यान की योग्यता स्वयं प्राप्त हो जाती है।

कुछ साधक भिन्न प्रकार से सोचते हैं। उनका चिन्तन है कि सालम्बन ध्यान परावलम्बी ध्यान है। उनकी दृष्टि में उसकी उपयोगिता नहीं है। उनका मानना है कि प्रारम्भ से ही विचार-शून्यता का अभ्यास करना चाहिए।

विचार शून्यता ध्यान की वास्तविक स्थिति है इसमें कोई सन्देह नहीं। सालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न होते हैं जबकि निरालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय के बीच में कोई भेद नहीं होता। सालम्बन ध्यान में चित्त बाह्य विषयों पर स्थित होता है जबकि निरालम्बन ध्यान में वह आत्मगत हो जाता है—जिस चैतन्य केन्द्र से वह प्रवाहित होता है उसी में जाकर विलीन हो जाता है। निरालम्बन ध्यान से आत्मा की आवृत और सुषुप्त शक्तियां जितनी जागृत होती हैं उतनी सालम्बन ध्यान से नहीं होतीं। सालम्बन ध्यान का प्रभाव मुख्य रूप से नाड़ी संस्थान और चित्त पर होता है। निरालम्बन ध्यान का मुख्य प्रभाव चैतन्य

केन्द्र पर होता है।

प्रश्न केवल क्षमता का है। यदि किसी साधक मे निरालम्बन ध्यान की क्षमता सहज हो तो उसे सालम्बन ध्यान की अपेक्षा नही होगी किन्तु जो साधक प्रारम्भ मे निरालम्बन ध्यान न कर सके उसके लिए इस अभ्यास का महत्त्व है कि वह सालम्बन ध्यान के द्वारा निरालम्बन ध्यान की योग्यता प्राप्त करे।

निरालम्बन ध्यान की कुछ पद्धतिया है। उन्हे जान लेने पर उसका अभ्यास सहज हो जाता है। उनका पहला अंग है—प्रयत्न की शिथिलता। सालम्बन ध्यान मे जैसे शरीर, वाणी और श्वास का प्रयत्न शिथिल किया जाता है, उसी प्रकार निरालम्बन ध्यान मे मन का प्रयत्न भी शिथिल कर दिया जाता है। निरलम्बन ध्यान वस्तुत: अप्रयत्न की स्थिति है।

दूसरा अग—निरभ्राकाश की ओर टकटकी लगाकर देखते जाइए। थोडे समय मे चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

तीसरा अग—केवल कुम्भक का अभ्यास कीजिए। मन विचारशून्य हो जाएगा।

चौथा अग—मानसिक विचारो को समेटकर हृदय-चक्र की ओर ले जाइए। फिर गहराई मे उतरने का अनुभव कीजिए। ऐसा करते ही चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

पाचवा अग—आत्मा या चैतन्य केन्द्र की धारणा को दृढ कर उसके सान्निध्य का अनुभव कीजिए। वह सहज शान्त और निर्विचार हो जाएगा।

इस प्रकार अनेक पद्धतियां हैं, जिनके द्वारा निर्विचार ध्यान को सुलभ बनाया जा सकता है किन्तु उन सबमे सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद्धति है—अप्रयत्न—प्रयत्न का विसर्जन, प्रवृत्ति का विसर्जन।

२६ कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या॥

२७ कृष्ण-नील-कापोत-तेज:-पद्म-शुक्ला.॥

२६ कृष्ण, नील आदि पुद्गल द्रव्यो के निमित्त से जो आत्म-

ध्यातुः पिण्डस्थितस्यैव ध्येयोऽर्थो ध्यायते यतः ।
ध्येयं पिण्डस्थमित्याहुरतएव च केचन ॥

—तत्त्वानुशासन—१३४

२५. निर्विचारं निरालम्बनम् ॥

२५. निर्विचार (विचारातीत, भावातीत या विकल्पातीत) ध्यान को निरालम्बन कहा जाता है।

निरालम्बन ध्यान

सालम्बन ध्यान का अभ्यास करते-करते मन दीर्घकाल तक एकाग्र होने लग जाता है। एकाग्रता की अन्तिम परिणति विचार शून्यता है। ध्यान के आरम्भकाल में किसी एक लक्ष्य पर चित्त की एकाग्रता होती है और अंत में वह लक्ष्य छूट जाता है। केवल चित्त की स्थिरता रह जाती है। इसीलिए अनेक साधकों का यह अनुभव है कि सालम्बन ध्यान में योग्यता प्राप्त कर लेने पर निरालम्बन ध्यान की योग्यता स्वयं प्राप्त हो जाती है।

कुछ साधक भिन्न प्रकार से सोचते हैं। उनका चिन्तन है कि सालम्बन ध्यान परावलम्बी ध्यान है। उनकी दृष्टि में उसकी उपयोगिता नहीं है। उनका मानना है कि आरम्भ से ही विचार शून्यता का अभ्यास करना चाहिए।

विचार शून्यता ध्यान की वास्तविक स्थिति है, इसमें कोई सन्देह नहीं। सालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय भिन्न होते हैं, जबकि निरालम्बन ध्यान में ध्याता और ध्येय के बीच में कोई भेद नहीं होता। सालम्बन ध्यान में चित्त बाह्य विषयों पर स्थित होता है जबकि निरालम्बन ध्यान में वह आत्मगत हो जाता है—जिस चेतना केन्द्र से वह प्रवाहित होता है उसी में आकर विलीन हो जाता है। निरालम्बन ध्यान से आत्मा की अव्यक्त और सूक्ष्म शक्तियां जितनी जागृत होती हैं उतनी सालम्बन ध्यान से नहीं होतीं। सालम्बन ध्यान का प्रभाव मुख्य रूप से नाड़ी संस्थान और चित्त पर होता है। निरालम्बन ध्यान का मुख्य प्रभाव चैतन्य

केन्द्र पर होता है।

प्रश्न केवल क्षमता का है। यदि किसी साधक में निरालम्बन ध्यान की क्षमता सहज हो तो उसे सालम्बन ध्यान की अपेक्षा नहीं होगी किन्तु जो साधक प्रारम्भ में निरालम्बन ध्यान न कर सके उसके लिए इस अभ्यास का महत्त्व है कि वह सालम्बन ध्यान के द्वारा निरालम्बन ध्यान की योग्यता प्राप्त करे।

निरालम्बन ध्यान की कुछ पद्धतियां हैं। उन्हें जान लेने पर उसका अभ्यास सहज हो जाता है। उनका पहला अंग है—प्रयत्न की शिथिलता। सालम्बन ध्यान में जैसे शरीर, वाणी और श्वास का प्रयत्न शिथिल किया जाता है, उसी प्रकार निरालम्बन ध्यान में मन का प्रयत्न भी शिथिल कर दिया जाता है। निरलम्बन ध्यान वस्तुत अप्रयत्न की स्थिति है।

दूसरा अंग—निरभ्राकाश की ओर टकटकी लगाकर देखते जाइए। थोड़े समय में चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

तीसरा अंग—केवल कुम्भक का अभ्यास कीजिए। मन विचारशून्य हो जाएगा।

चौथा अंग—मानसिक विचारों को समेटकर हृदय-चक्र की ओर ले जाइए। फिर गहराई में उतरने का अनुभव कीजिए। ऐसा करते ही चित्त विचार-शून्य हो जाएगा।

पांचवां अंग—आत्मा या चैतन्य केन्द्र की धारणा को दृढ़ कर उसके सान्निध्य का अनुभव कीजिए। वह सहज शान्त और निर्विचार हो जाएगा।

इस प्रकार अनेक पद्धतियां हैं, जिनके द्वारा निर्विचार ध्यान को सुलभ बनाया जा सकता है किन्तु उन सबमें सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण पद्धति है—अप्रयत्न—प्रयत्न का विसर्जन, प्रवृत्ति का विसर्जन।

२६ कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या ॥

२७ कृष्ण-नील-कापोत-तेजः-पद्म-शुक्लाः ॥

२६. कृष्ण, नील आदि पुद्गल द्रव्यों के निमित्त से जो आत्म-

परिणाम होता है उसे लेश्या कहा जाता है।

२७ लेश्या के छह प्रकार हैं

१ कृष्ण	४ तेजस्
२ नील	५ पद्म
३ कापोत	६ शुक्ल

लेश्या

मनुष्य का शरीर पौद्गलिक है। उसके इन्द्रिय और सहायक मन भी पौद्गलिक है। उसकी सारी प्रवृत्तियो मे पुद्गल का बहुत बडा योग रहता है। पुद्गल के चार लक्षण हैं—वर्ण, गन्ध रस और स्पर्श। इन चारों मे पहला वर्ण—रंग है। वर्ण के पाच प्रकार हैं—काला पीला, नीला लाल और सफेद। इनके मिश्रण से अनेक रंग उत्पन्न होते हैं।

आधुनिक वैज्ञानिक रंग के सात प्रकार मानते है—लाल हरा पीला आसमानी गहरा नीला काला और हल्का नीला।

उनके अनुसार सफेद रंग मौलिक नही है। यह सात रगो के एकीकरण से बनता है।

रगो का प्राणी जीवन के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है। ये हमारे शरीर तथा मानसिक विचारों को भी प्रभावित करते है। लेश्या के सिद्धान्त द्वारा इसी प्रभाव की व्याख्या की गई है।

वैज्ञानिक परीक्षणो के द्वारा रगो की प्रकृति पर काफी प्रकाश डाला गया है। देखिए यत्र—

नाम	प्रकृति
लाल	गर्म
नारगी	गर्म
लाल-नारगी	बहुत गर्म
[illegible]	गर्म किन्तु लाल-नारगी से कम
	गर्म
	गर्म

बादामी	गर्म
हरा	न अधिक गर्म, न अधिक ठंडा
नीला	ठंडा
गहरा नीला या आसमानी	ठंडा
शुभ्र (बनफशी)	न गर्म, न ठंडा

इनमें नारंगी लाल रंग के परिवार का रंग है। बैंगनी और जामुनी रंग नील रंग के परिवार के अंग हैं।

रंगों का शरीर पर प्रभाव

लाल स्नायुमण्डल को स्फूर्ति देना।

नीला स्नायविक दुर्बलता, धातुक्षय, स्वप्नदोष में लाभ पहुंचाना और हृदय तथा मस्तिष्क को शक्ति देना।

पीला मस्तिष्क की शक्ति का विकास, कब्ज, यकृत और प्लीहा के रोगों को शान्त करने में उपयोगी।

हरा ज्ञान-तन्तुओं और स्नायुमण्डल को बल देना, वीर्य रोग के उपशमन में उपयोगी।

गहरा नीला गर्मी की अधिकता से होने वाले आमाशय सम्बन्धी रोगों के उपशमन में उपयोगी।

शुभ्र नींद के लिए उपयोगी।

नारंगी दमा तथा वात-व्याधियों के रोगों को मिटाने में उपयोगी।

बैंगनी शरीर के तापमान को कम करने में उपयोगी।

रंगों का मन पर प्रभाव

काला रंग मनुष्य में असंयम, हिंसा और क्रूरता का विचार उत्पन्न करता है।

नीला रंग मनुष्य में ईर्ष्या, असहिष्णुता, रसलोलुपता और आसक्ति का भाव उत्पन्न करता है।

कापोत रंग मनुष्य में वक्रता, कुटिलता और दृष्टिकोण का विपर्यास

उत्पन्न करता है।

अरुण रंग मनुष्य में ऋजुता, विनम्रता और धर्म प्रेम उत्पन्न करता है।

पीला रंग मनुष्य में शान्ति, क्रोध-मान-माया और लोभ की अल्पता व इन्द्रिय विजय का भाव उत्पन्न करता है।

सफेद रंग मनुष्य में गहरी शान्ति और जितेन्द्रियता का भाव उत्पन्न करता है।

मानसिक विचारों के रंगों के विषय में एक दूसरा वर्गीकरण भी मिलता है जिसका प्रथम वर्गीकरण से साथ पूर्ण सामंजस्य नहीं है। वह इस प्रकार है

विचार	रंग
भक्ति विषयक	आसमानी
कामोद्दीपन विषयक	लाल
तर्क वितर्क विषयक	पीला
प्रेम विषयक	गुलाबी
स्वार्थ विषयक	हरा
क्रोध विषयक	लाल-काले रंग का मिश्रण

इन दोनों वर्गीकरणों के तुलनात्मक अध्ययन से ऐसा प्रतीत होता है कि प्रत्येक रंग दो प्रकार का होता है

१ प्रशस्त

२ अप्रशस्त

कृष्ण नील और कापोत—अप्रशस्त कोटि के ये तीनों रंग मनुष्य के विचारों पर बुरा प्रभाव डालते हैं तथा अरुण, पीला और सफेद—प्रशस्त कोटि के ये तीनों रंग मनुष्य के विचारों पर अच्छा प्रभाव डालते हैं।

क्रोध में अग्नि तत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण लाल है। मोह में जलतत्त्व प्रधान हो जाता है। उसका वर्ण सफेद या बैंगनी है। भय में

५ हृदय, कण्ठ, तालु और शिर में विचरने वाला वायु उदान कहलाता है। इसका वर्ण रक्त होता है।

६ त्वग्भाग में विचरने वाला वायु व्यान कहलाता है। इसका वर्ण इन्द्रधनुषी होता है।

वायु

प्राण का अर्थ है—जीवनी शक्ति। उसके दस प्रकार हैं

१ स्पर्शनेन्द्रियप्राण	६ मनोबल प्राण
२ रसनेन्द्रियप्राण	७ वचनबल प्राण
३ घ्राणेन्द्रियप्राण	८ कायबल प्राण
४ चक्षुरिन्द्रियप्राण	९ श्वासोच्छ्वास प्राण
५ श्रोत्रेन्द्रियप्राण	१० आयुष्य प्राण

इस शक्ति के द्वारा ही प्राणी जीवन को धारण करता है। इसके मूल में चेतन्य और पुद्गल दोनों क्रियाशील रहते हैं। इस प्राणशक्ति को वायु के द्वारा गति मिलती है। इसलिए उसे (वायु को) स्थूल प्राण कहा जाता है।

शरीरस्थ वायु के मुख्य पांच प्रकार हैं

१ प्राण
२ अपान
३ समान
४ उदान
५ व्यान

स्थान, गति कार्य, परिणाम व वर्ण इस प्रकार हैं

है, नासिकाग्र छाती व कण्ठ है। इसके
करना तथा थूकना छींक,
डकार, खांसी,
आदि

पांचवां प्रकरण

१. प्राणापान-समानोदान-व्यानाः पंच वायवः ॥

२. नासाग्र-हृदय-नाभि-पादांगुष्ठान्तगोचरो नीलवर्णः प्राणः ॥

३. पृष्ठ-पृष्ठान्त-पार्ष्णिगः श्यामवर्णः अपानः ॥

४ सर्वसन्धि-हृदय-नाभिगः श्वेतवर्णः समानः ॥

५ हृदय-कण्ठ-तालु-शिरोन्तरगो रक्तवर्णं उदानः ॥

६ सर्वत्वग्वृत्तिको मेघधनुस्तुल्यवर्णो व्यानः ॥

१ प्रधानत वायु के पाच प्रकार है

१ प्राण
२ अपान
३. समान
४ उदान
५ व्यान

२ नासिका के अग्रभाग, हृदय, नाभि और पैरो के अगूठे तक व्याप्त रहने वाला वायु प्राण कहलाता है। इसका वर्ण नील होता है।

३ पीठ, पीठ के अन्त्य भाग और पार्ष्णियो (एडियो) मे परि-व्याप्त वायु अपान कहलाता है। इसका वर्ण श्याम होता है।

४. सारे सन्धि-भागो, हृदय तथा नाभि मे विचरने वाला वायु समान कहलाता है। इसका वर्ण श्वेत होता है।

५ हृदय, कण्ठ, तालु और सिर में विचरने वाला वायु उदान कहलाता है। इसका वर्ण रक्त होता है।
६ त्वचमात्र में विचरने वाला वायु व्यान कहलाता है। इसका वर्ण इन्द्रधनुषी होता है।

वायु

प्राण का अर्थ है—जीवनी शक्ति। उसके दस प्रकार हैं

१ स्पर्शनेन्द्रियप्राण	६ मनोबल प्राण
२ रसनेन्द्रियप्राण	७ वचनबल प्राण
३ घ्राणेन्द्रियप्राण	८ कायबल प्राण
४ चक्षुरिन्द्रियप्राण	९ श्वासोच्छ्वास प्राण
५ श्रोत्रेन्द्रियप्राण	१० आयुष्य प्राण

इस शक्ति के द्वारा ही प्राणी जीवन को धारण करता है। इसके मूल में चैतन्य और पुद्गल दोनों क्रियाशील रहते हैं। इस प्राणशक्ति को वायु के द्वारा गति मिलती है। इसलिए उसे (वायु को) स्थूल प्राण कहा जाता है।

शरीरगत वायु के मुख्य पांच प्रकार हैं

१ प्राण
२ अपान
३ समान
४ उदान
५ व्यान

इनके स्थान, गति, कार्य, परिणाम व वर्ण इस प्रकार हैं

प्राण—इसका स्थान मस्तक है, गतिस्थल छाती व कण्ठ है। इसके कार्य बुद्धि, हृदय, इन्द्रिय और मन को धारण करना तथा थूकना, छींक, डकार, निःश्वास और अन्नप्रवेश है। यह रूक्षता, व्यायाम, लंघन, भार, यात्रा तथा वेग निरोध से विकृत होती है, जिसके परिणाम चक्षु आदि इन्द्रियों का विनाश, अर्दित, प्यास, कास, श्वास आदि रोगों की उत्पत्ति

है। इसमे वायु तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण नील होता है।

अपान—इसका स्थान गुदास्थल है तथा कार्यक्षेत्र श्रोणि, वस्ति है। इसका कार्य वीर्य, रज, मल-मूत्र को बाहर निकालना है। विकृति रुक्ष तथा भारी अन्न सेवन से वेगो को रोकने या अति प्रवृत्ति करने से, अति बैठने, खड़े होने या चलने से होती है। इसके परिणाम है—पक्वाशयगत कष्टसाध्य रोगो, मूत्र एव वीर्य के रोगो, अर्श, गुद-भ्रंश आदि रोगो की उत्पत्ति। इसमे पार्थिव तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण श्याम होता है। यहा श्याम का अर्थ काला नही किन्तु धूमिल या पीत-बहुल धूसर है।

समान—इसका स्थान पाचनाग्नि के पास है तथा गति कोष्ठ मे है।
ग्रहण कर पचाना, विरेचन करना, सार और किट्ट मे भेद
ग (मल-मूत्र) को नीचे सरकाना है। यह विषम भोजन,
अन्न, शीत भोजन व सकीर्ण भोजन तथा असमय मे सोने या
त होती है। इसके परिणाम शूल, गुल्म, सग्रहणी आदि
ोगो की उत्पत्ति है। इसमे जल तत्त्व की प्रधानता होने के
वर्ण श्वेत होता है।

-इसका स्थान छाती है तथा गति नासा, नाभि व गले मे है।
णी की प्रवृत्ति, उत्साह, बल, वर्ण और स्मृति है। छीक,
व निद्रावेग रोकने व अति रुदन-हास्य, भारी बोझ उठाने
विकृत होती है। इसके परिणाम है—कण्ठरोध, मनोभ्रंश,
ना नाश, पीनस, गलगण्ड आदि रोगो की उत्पत्ति। इसमे
े प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण लाल है।

इसका स्थान हृदय है तथा गति सर्वत्वचा मे है। गति, अग
लाना, नेत्रादि को मूदना-खोलना आदि इसके कार्य है।
ज, चिंता, खेल, विषम चेष्टा, रुक्ष-भोजन, भय, हर्ष एव
। होती है। इसके परिणामस्वरूप पुरुषत्व की हानि, उत्साह-

हानि बल-हानि चित्त की बेचैनी, अर्गों में जड़ता आदि रोग उत्पन्न होते हैं। इसमें आकाश तत्त्व की प्रधानता होने के कारण इसका वर्ण सतरंगी इन्द्रधनुष जैसा होता है।

बहुत दिनों से बन्द मकान को खोलते ही दूषित वायु निकलती है। उससे कभी-कभी प्राणान्त तक हो जाता है। लोग भूत की कल्पना करते हैं पर वहां भूत का काम दूषित वायु ही करती है। सूर्यास्त के बाद बरगद आदि बड़े वृक्ष दूषित प्राणवायु छोड़ते हैं। उनके नीचे सोने वाले कभी कभी मर जाते हैं। लोग वहां भी भूत की कल्पना करते हैं पर वहां भी भूत वही दूषित वायु होती है। प्राणवायु की शुद्धि-अशुद्धि को जानने वाला बहुत सारी कठिनाइयों से बच जाता है। अपान वायु दूषित न हो इसका ध्यान रखना बहुत आवश्यक है। अधिक खाने मलशुद्धि न होने तथा वेगों को रोकने से अपानवायु दूषित हो जाती है। मस्सा, नासूर आदि बीमारियां अपानवायु के दूषित होने से होती हैं। स्वभाव का चिड़चिड़ापन और मानसिक अप्रसन्नता भी दूषित अपानवायु के कारण होती है। आहारशुद्धि मलशुद्धि अश्विनी मुद्रा और मूलबन्ध करने से अपानवायु की शुद्धि होती है।

[1]शरीर की अपानवायु को शुद्ध करने की क्रिया का नाम अपानायाम है। ऐसी कुछ क्रियाएं नीचे दी जाती हैं, जिन्हें विधिपूर्वक करके लाभ उठाया जा सकता है :

१ प्रथम पेट को सामने की ओर जितना फुला सकें फुलाए फिर सिकोड़ें। नाभि को रीढ़ की हड्डी के साथ लगाने का प्रयत्न करें। इससे जहां अपान का अनुशासन होता है उसके साथ वीर्य रक्षा भी होती है। अब दोनों हाथों को पेट पर रखें। अंगूठा पीछे रहे और अंगुलियां सामने की ओर हों। अब पेट को पूर्ववत् फुलाए और बाएं हाथ से दायीं ओर

---

१ धन्वन्तरि—प्राकृतिक चिकित्सा विशेषांक वर्ष ४०, अङ्क ३, पृ० १३७।

दबाव डाले। दाए हाथ से पीछे की ओर दबाव डाले। अब पेट को पीछे से बाए-दाए फुलाए। इसी प्रकार कई दिनों तक अभ्यास करने से पेट स्वय बायी से दायी ओर होकर, फिर पीछे होकर बायी ओर आ जाएगा। इसी प्रकार दायी ओर से चक्कर लगाने का अभ्यास करें। तत्पश्चात् पेट को ऊपर से नीचे और नीचे से ऊपर गतिया देनी चाहिए। इससे पेट की सफाई हो जाती है और अपानवायु वश में हो जाता है।

२ खड़े होकर श्वास को बिलकुल बाहर फेंककर काख के दोनो पार्श्वों को भीतर खीचने का खूब यत्न करें। मध्यप्रदेश नाभिस्थल ऊपर रहे। इसका अभ्यास करने के लिए सामने कोई मेज हो या अन्य वस्तु जिसे खूब अच्छी तरह पकड़ा और उठाया जा सके। अब हाथो के बल सीधा ऊपर उठा जाए और वही क्रिया की जाए। नल स्वय बाहर निकलेगा। अब बिना मेज के दोनो हाथों को घुटनो पर रखकर श्वास बाहर फेंककर कुक्षि-प्रदेश अन्दर खीचे। जब नल निकलने लग जाए तब श्वास चाहे अन्दर हो या बाहर, श्वास को बाहर रोककर नल निकाला जा सकता है और उसे आगे-पीछे खूब अच्छी तरह हिलाया जा सकता है। इस क्रिया से अपानवायु वश मे होती है व पेट की बहुत-सी बीमारिया दूर हो जाती है।

३ आपने बहुत बार कुत्ते या बिल्ली को अगडाई लेते देखा होगा। ठीक इसी प्रकार की स्थिति मे हो जाइए। हाथो को सीधा आगे पसारिए। जमीन पर ठोडी या गाल लगे और घुटने अलग करके रखे। कमर को जितना हो सके झुकाए। अब अपान को बाहर करने का प्रयत्न करें। उसके बाद स्वय ही अपान अन्दर आने की कोशिश करेगा। इससे अफरा, सिरदर्द दूर होते है। अपानायाम मे सिर्फ पूरक व रेचक ही करना चाहिए, कुम्भक नही। पेट को बिलकुल ढीला छोड देने से वायु बाहर हो जाता है।

प्राण, अपान आदि की विधिवत् साधना करने वाला बाह्य और आन्तरिक दोनो प्रकार की उपलब्धियो से सम्पन्न होता है। सोमदेव-

सूरि के अनुसार जो व्यक्ति पवन के प्रयोग में निपुण होता है, वह सिद्ध और सर्वज्ञ जैसा हो जाता है

पवनप्रयोगनिपुण सम्यक सिद्धो भवेदशेषज्ञ ।

७ नासादिषु स्वस्वस्थानेषु रेचक-पूरक-कुम्भकस्तज्जय ॥

८ य प व रौं लौं तद्ध्यानबीजानि ॥

७ पांचों वायुओं के जो अपने-अपने विचरण-स्थान हैं, वहां संकल्प पूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक करने से इन पर विजय प्राप्त होती है।

८ पांचों वायुओं के ध्यान-बीज इस प्रकार हैं

१ प्राण—य
२ अपान—पैं
३ समान—व
४ उदान—रौं
५ व्यान—लौं

वायु-जय की प्रक्रिया

पूर्ववर्ती सूत्र में वायु के स्थानों का निर्देश किया गया है। जिस वायु को अपने वश में करने की अपेक्षा होती है उस पर मन को केन्द्रित करना आवश्यक होता है। प्राणवायु का मुख्य स्थान नासाग्र है। उसे अपने वश में करने के लिए नासाग्र पर ध्यान केन्द्रित करना चाहिए। नासाग्र के द्वारा प्राण का गम और निगम होता है। वहां मन को उसी प्रकार नियोजित करना चाहिए जिस प्रकार एक प्रहरी द्वार से आने जाने वाले लोगों पर ध्यान केन्द्रित किए खड़ा रहता है। लम्बे समय तक प्राणवायु के गम और निगम पर ध्यान केन्द्रित करने से वह साधक के अधीन हो जाती है। फिर साधक उसे शरीर के जिस भाग में ले जाना चाहता है या स्थापित करना चाहता है, मन की गति के साथ वह वहीं चली जाती है या स्थापित होती है। इस प्रकार अन्य वायुओं पर भी ध्यान को केन्द्रित

कर उन्हें अपने अधीन किया जा सकता है। प्रत्येक वायु स्वाभाविक ढंग से अपना-अपना काम करती है किन्तु ध्यान के द्वारा उनमें विशेषता लायी जा सकती है और उनकी शक्ति का संवर्धन किया जा सकता है। इस कार्य के सम्पादन में प्राणायाम का भी महत्त्वपूर्ण स्थान है। रेचक के द्वारा उनके दूषित तत्त्वों को बाहर फेंक दिया जाता है। पूरक के द्वारा उनकी शक्ति को पुष्ट किया जाता है और कुम्भक के द्वारा उनकी कार्य-क्षमता को जागृत किया जाता है। साधक संकल्पपूर्वक रेचक, पूरक और कुम्भक कर वायु को अपने अधीन बना लेता है और फिर वह उसके द्वारा इष्ट कार्य का सम्पादन करता है। वायु पर ध्यान केन्द्रित करते समय उसके ध्यान-बीजों का भी आलम्बन लेना चाहिए।

९. जठराग्निप्राबल्यं वायुजयः शरीरलाघवञ्च प्राणस्य लघयः ॥

१०. व्रणसंरोहण-अस्थिसन्धान-अग्निप्राबल्य-मलमूत्राल्पता व्याधिजयः अपानसमानयोः ॥

११. पङ्क-कण्टकबाधाऽभाव उदानस्य ॥

१२. ताप पीड़ाऽभावः आरोगित्वञ्च व्यानस्य ॥

१३. अङ्गनाड्या वायुमाकृष्य पादाङ्गुष्ठान्तं तन्नयनं क्रमशः पुनरुन्नयन पुनर्नयनञ्च मनःस्थैर्याय ॥

१४. पादाङ्गुष्ठतो लिङ्गपर्यन्त वायुधारणेन शीघ्रगतिर्बलप्राप्तिश्च ।

१५ नाभौ तद्धारणेन ज्वराविनाशः ॥

१६. जठरे तद्धारणेन कायशुद्धिः ॥

१७. हृदये तद्धारणेन ज्ञानोपलब्धिः ।

१८. कूर्मनाड्या तद्धारणेन रोगजराविनाश. ॥

१९. कण्ठकूपस्य निम्नभागे स्थिता कुण्डलिसर्पाकारा नाडी कूर्मनाडी ॥

२०. कण्ठकूपे तद्धारणेन क्षुत्तृषाजय. ॥

२१. जिह्वाग्रे तद्धारणेन रसज्ञानम् ॥

२२ नासाग्रे तद्धारणेन गन्धज्ञानम् ॥

२३. चक्षुषोस्तद्धारणेन रूपज्ञानम् ॥

२४ कपाले तद्धारणेन क्रोधोपशम ॥

२५ ब्रह्मरन्ध्रे तद्धारणेन अदृश्यदर्शनम ॥

९ प्राणवायु को जीतने से जठराग्नि प्रबल होती है। वायु जीत लिया जाता है और शरीर मे हल्कापन आ जाता है।

१० अपान और समानवायु को जीतने से ये फल प्राप्त होते हैं

१ व्रणसंरोहण—घाव मिलना।

२ अस्थि-सन्धान—हड्डी जुड़ जाना।

३ जठराग्नि की प्रबलता।

४ मल और मूत्र की अल्पता।

५ व्याधि पर विजय।

११ उदान वायु पर विजय प्राप्त करने पर कीचड़, कांटे आदि बाधक नही बनते। लघुता प्राप्त होने से फसना, डूबना आदि नही होते।

१२ ताप और पीड़ा का अभाव तथा निरोगता—ये व्यान वायु की विजय के लाभ या फल हैं।

१३ बाए स्वर को चन्द्रनाडी तथा दाए स्वर को सूर्यनाडी कहा जाता है। चन्द्रनाडी से पवन का आकर्षण कर उसे पैरों के अंगूठे तक ले जाना क्रमशः उसे फिर ऊपर लाना फिर नीचे ले जाना—इस प्रकार ऊपर-नीचे लाने-ले जाने से मन की स्थिरता प्राप्त होती है।

१४ पादांगुष्ठ से लिंग पर्यन्त वायु को धारण करने से शीघ्र गति और बल की प्राप्ति होती है।

१५ नाभि मे वायु को धारण करने से ज्वर आदि रोग नष्ट होते है।

१६ जठर मे वायु को धारण करने से शरीर की शुद्धि होती है, मल क्षीण हो जाते है।

१७ हृदय मे वायु को धारण करने से ज्ञान की उपलब्धि होती है।

१८ कर्मनाडी में वायु को धारण करने से रोग और बुढापा नष्ट होता है।

१६. कण्ठकूप के निचले भाग में कुण्डली-मुद्रा में बैठे हुए सर्प के आकार की जो नाडी है, उसे कूर्मनाडी कहा जाता है।

२० कण्ठकूप में वायु को धारण करने से भूख और प्यास पर विजय प्राप्त होती है।

२१ जिह्वाग्र में वायु को धारण करने से रस का ज्ञान प्राप्त होता है।

२२ नासाग्र में वायु को धारण करने से गन्ध का ज्ञान प्राप्त होता है।

२३. चक्षुओं में वायु को धारण करने से रूप का ज्ञान प्राप्त होता है।

२४ कपाल में वायु को धारण करने से क्रोध उपशान्त होता है।

२५ ब्रह्मरन्ध्र में वायु को धारण करने से चर्म चक्षुओं द्वारा अदृश्य वस्तुएं दीखने लग जाती हैं।

वायु-विजय के लाभ

महर्षि पतंजलि ने उदान और समान दोनों के विजय के लाभ बतलाए हैं। उनके योगदर्शन में शेष वायुओं के विजय के लाभ की कोई चर्चा नहीं है। उनके अनुसार संयम के द्वारा उदान वायु के जय से शरीर हल्का हो जाता है। फिर वह पानी में नहीं डूबता। उसके पैर कीचड़ में नहीं फंसते और कांटों में भी नहीं उलझते। मरण के समय उसकी ब्रह्मरन्ध्र के द्वारा प्राणों के निकलने से ऊर्ध्वगति होती है

उदानजयाज्जलपङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ॥

(पातंजल योगदर्शन—विभूतिपाद, ३६)

संयम के द्वारा समान वायु का विजय कर लेने पर साधक का शरीर दीप्तिमान हो जाता है—

समानजयाज्ज्वलनम् ॥

(पातंजल योगदर्शन—विभूतिपाद, ४०)

उत्तरवर्ती योगग्रन्थों में अन्य वायुओं के जय से होने वाले लाभों का वर्णन मिलता है। नौवें से बारहवें सूत्र तक उनका निरूपण किया गया है। तेरहवें सूत्र में प्राणायाम की एक विशेष प्रक्रिया का निरूपण किया गया है। आचार्य हेमचन्द्र के योगशास्त्र तथा याज्ञवल्क्य गीता में इसका विस्तृत वर्णन मिलता है।

उक्त प्राणायाम की प्रक्रिया इस प्रकार है—साधक पद्मासन या सिद्धासन लगाकर बैठे। फिर वह रेचक प्राणायाम करे। उसके बाद बाएं नथुने से पूरक प्राणायाम करे और प्राण को पैरों के अंगूठे तक ले जाए। वहां संकल्पपूर्वक कुम्भक करे। फिर प्राणवायु को क्रमशः पैरों के तलुवे, एड़ी टखने जंघा घुटने ऊरु गुदा लिंग नाभि उदर हृदय, कण्ठ, जीभ तालू नासाग्र नेत्र भौंह ललाट और सिर तक ले जाए। वहां से उसे ब्रह्मरन्ध्र में ले जाए। फिर उलटे क्रम से प्राणवायु को पैरों के अंगूठे तक ले जाए। फिर पैरों के अंगूठे से उसे नाभि तक लाकर उसका विरेचन कर दे। इस प्रक्रिया के मध्य वायु को धारण करने से होने वाले लाभ चौदहवें से पचीसवें सूत्र तक बतलाए गए हैं।

२६ आस्थावाञ्छो दीर्घकालासेवन नरन्तय सत्कारसेवनच्च हेतुः ॥

२७ मनोनुशासनाद् अतीन्द्रियोपलब्धिः ॥

२६ दृढ़ आस्थायुक्त प्रतिदिन लम्बे समय तक उक्त स्थानों में संकल्पपूर्वक कुम्भक करने तथा क्रम-पूर्वकता या विलय होने से ही ये सफलताएं प्राप्त होती हैं।

२७ मन के अनुशासित होने पर अतीन्द्रिय ज्ञान की प्राप्ति होती है। मनोनुशासन का अन्तिम फल अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि या स्वभाव की उपलब्धि है।

सिद्धि की प्रक्रिया

योग-साधना से होने वाली उपलब्धियों का वर्णन मनुष्य के सामान्य ज्ञान से परे की वस्तु है। साधारणतया जीवन में ऐसा घटित नहीं होता

किन्तु मन की एकाग्रता के द्वारा कुछ ऐसा घटित होता है, जिसकी मानसिक चचलता की स्थिति मे कल्पना भी नही की जा सकती। हमारे शरीर के भीतर कुछ ऐसे शक्ति-स्रोत विद्यमान है जिनका चैतसिक चचलता की स्थिति मे कोई उपयोग नही होता। एकाग्रता की स्थिति मे वे स्रोत उद्घटित हो जाते है और वे शरीर मे विशेष प्रकार की रासायनिक क्रिया उत्पन्न करते हैं। उनके द्वारा असभव प्रतीत होने वाले परिवर्तन सहज ही घटित हो जाते हैं, किन्तु यह कुछ ही दिनो मे घटित नही होता। इसकी सिद्धि के चार उपाय है :

१ आस्था बन्ध
२ दीर्घकालिक अभ्यास
३ निरन्तर अभ्यास
४. कर्मविलय

साधना मे दृढ आस्था हुए बिना सफलता सभव नही होती। उसके होने पर भी यदि अभ्यास दीर्घकाल तक न चले तो सफलता सभव नही है। दीर्घकालिक अभ्यास होने पर भी यदि वह निरन्तर न चले, उस स्थिति मे भी साधक सफल नही हो सकता। इन सबके होने पर भी बन्धन-विलय से प्राप्त योग्यता अपेक्षित रहती है। इन सबका समुचित योग होने पर जो असभव प्रतीत होता है, वह सभव बन जाता है।

उक्त उपलब्धियो से भी अधिक महत्त्वपूर्ण होती है अतीन्द्रिय ज्ञान की उपलब्धि। स्थूल मन की एकाग्रता होने पर वह भी घटित हो जाती है।

छठा प्रकरण

१ सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम् ॥
२ सर्वभूतेषु संयम अहिंसा ॥
३ कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादश्च सत्यम् ॥
४ परोपरोधाकरणमस्तेयम् ॥
५ बस्तीन्द्रियमनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम ॥
६ बाह्ये मनसोऽनभिष्वङ्गोऽपरिग्रह ॥
७ आलोके भोजन पानञ्च ॥
८ भूमिं प्रतिवीक्ष्यमाणो गच्छेत् ॥
९ प्रतिलेखन प्रमार्जनपूर्वकमुपकरणानामादाननिक्षेपं कुर्यात् ॥
१० क्रोध-लोभ भय-हास्यानि वर्जयेद् अनुविचिन्त्य भाषेत ॥
११ अवग्रहानुज्ञां परिपालयेत् ॥
१२ ब्रह्मचर्यपरिपन्थिसंसर्गं प्रियप्रयोग विवर्जयेत् ॥
१३ प्रियाप्रियप्रयोगे रज्येद् न द्विष्याद न च देहमध्यासीत ॥
१४ स्थूलहिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरणुव्रतम् ॥
१५ क्षमा-मार्दव आर्जव शौच - सत्य-संयम-तपस्त्याग आकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि श्रमणधर्म ॥
१६ क्रोध निग्रह क्षमा ॥
१७ हीनानामपरिभवनं मार्दवम् ॥
१८ माया निरोध आर्जवम् ॥

१६. शौचमलुब्धता ॥

२०. सत्यम्[1] ॥

२१. हिंसादिप्रवृत्तेरुपरमणं संयमः ॥

२२. कर्म-निर्जरणहेतु पौरुषं तपः ॥

२३. सविभागकरणं त्यागः ॥

२४. स्वदेहे निःसंगता आकिंचन्यम् ॥

२५. ब्रह्मचर्यम्[2] ॥

१ हिंसा, असत्य, चोरी, अब्रह्मचर्य और परिग्रह—इनको सर्वथा त्यागने का नाम महाव्रत है। सर्वथा त्यागने का अर्थ है—मनसा, वाचा, कर्मणा, हिंसा आदि स्वयं न करना, दूसरो से न कराना और करते हुए का अनुमोदन न करना।

२ प्राणी मात्र के प्रति संयम—अपनी असत्-प्रवृत्तियो की रुकावट रखना, उन्हे कष्ट न पहुचाना तथा उनके प्रति मैत्री रखना अहिंसा है।

३ शरीर, वाणी और मन की ऋजुता तथा अविसवादित्व (कथनी और करनी की एकरूपता) को सत्य कहा जाता है।

४ दूसरो के स्व का हरण न करने को अस्तेय कहा जाता है।

५ जननेन्द्रिय, इन्द्रिय-समूह और मन की शान्ति को ब्रह्मचर्य कहा जाता है।

६ बाह्य (आत्मा से अतिरिक्त वस्तुओ) मे मन का सम्बन्ध न करने को अपरिग्रह कहा जाता है।

७ योग-अभ्यासी को भोजन-पान आलोक मे (सूर्य के रहते हुए ही) करना चाहिए।

८ उसे भूमि को देखते हुए चलना चाहिए।

---

१ देखें ६।३

२ देखें ६।५

कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं। जो आसक्त होता है उसके कर्म-संस्कार संचित होते हैं इसलिए आकिंचन्य का अभ्यास करो।

१६ जो ब्रह्मचर्य का भली भांति आचरण करता है उसके कर्म संस्कार क्षीण होते हैं। जो उसका सम्यग् आचरण नहीं करता, उसके कर्म संस्कार संचित होते हैं, इसलिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो।

महाव्रत

महर्षि पतंजलि ने अष्टांग योग का प्रतिपादन किया है। उसमें पहला अंग यम है। जैन साधना पद्धति का पहला अंग महाव्रत है। महाव्रतों को मूल गुण और शेष साधना के अंगों को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतों के होने पर अन्य साधना के अंग विकसित हो सकते हैं। इनके न होने पर वे अंग पुष्ट नहीं हो सकते। इसीलिए महाव्रत मूल गुण है। सुदृढ़ आधार के बिना भवन की भित्तियों की कल्पना नहीं की जा सकती। वैसे ही मूल गुणों का स्थिर अभ्यास किए बिना धारणा, ध्यान और समाधि की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से साधना के प्रसंग में महाव्रतों का अपना विशेष स्थान है।

महाव्रत के पांच प्रकार हैं

१. अहिंसा
२. सत्य
३. अचौर्य
४. ब्रह्मचर्य
५. अपरिग्रह

इनमें श्रे [redacted] स्थान अहिंसा का है। शेष सब उसी का विस्तार है।
[illegible] होते हैं

१७ जाति, कुल, विद्या, ऐश्वर्य आदि में जो हीन हो, उनका तिरस्कार न करना मार्दव है। मैं उत्तम जातीय हूं और यह नीच जातीय है—इस प्रकार मद नहीं करना चाहिए। जो मद नहीं करता, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं। जो मद करता है, उसके कर्म-संस्कार संचित होते हैं, इसलिए आने वाले मान का निग्रह करो और जो मान आ गया, उसे विफल करो।

१८ माया के निरोध को आर्जव कहा जाता है। जो ऋजु होता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं। जो कुटिल होता है, उसके कर्म-संस्कार संचित होते हैं, इसलिए होने वाली माया का निग्रह करो और जो माया हो गई, उसे विफल करो।

१६ अलुब्धता को शौच कहा जाता है। जो लुब्धभाव नहीं रखता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं। जो लुब्धभाव रखता है, उसके कर्म-संस्कार संचित होते हैं। इसलिए आने वाले लोभ का निरोध करो और जो लोभ आ गया, उसे विफल करो।

२० जो सत्य बोलता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं। जो असत्य बोलता है, उसके कर्म-संस्कार संचित होते हैं।

२१ हिंसा आदि अकरणीय कार्य से विरत होना संयम है। जो संयम करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं। जो असंयम करता है, उसके कर्म-संस्कार संचित होते हैं।

२२ संचित कर्मों का शोधन करने वाले पराक्रम को तप कहा जाता है। जो तप करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं, इसलिए तप का अभ्यास करो।

२३ संयमी को वस्त्र, पात्र, औषध आदि का संविभाग देने को त्याग कहा जाता है। जो संविभाग करता है, उसके कर्म-संस्कार क्षीण होते हैं, इसलिए संविभाग करो।

२४. अपने शरीर के प्रति जो निःसंगता होती है, निर्ममत्व होता है, उसे आकिंचन्य कहा जाता है। जो निःसंग होता है, उसके

कर्म संस्कार क्षीण होते हैं। जो आसक्त होता है उसके कर्म-संस्कार संचित होते हैं इसलिए आकिंचन्य का अभ्यास करो।

२५ जो ब्रह्मचर्य का भली भांति आचरण करता है, उसके कर्म संस्कार क्षीण होते हैं। जो उसका सम्यग् आचरण नहीं करता उसके कर्म संस्कार संचित होते हैं इसलिए ब्रह्मचर्य का आचरण करो।

महाव्रत

महर्षि पतञ्जलि ने अष्टांग योग का प्रतिपादन किया है। उसमें पहला अंग यम है। जैन साधना पद्धति का पहला अंग महाव्रत है। महाव्रतों को मूल गुण और अन्य साधना के अंगों को उत्तर गुण माना जाता है। महाव्रतों के होने पर अन्य साधना के अंग विकसित हो सकते हैं। इनके न होने पर वे विकसित नहीं हो सकते। इसीलिए महाव्रत मूल गुण हैं। सुदृढ़ आधार के बिना भवन की मंजिलों की कल्पना नहीं की जा सकती। वैसे ही मूल गुणों का स्थिर अभ्यास किए बिना धारणा, ध्यान और समाधि की कल्पना नहीं की जा सकती। इस दृष्टि से साधना के प्रसंग में महाव्रतों का प्राथमिक स्थान है।

महाव्रत के पांच प्रकार हैं

१ अहिंसा
२ सत्य
३ अस्तेय
४ ब्रह्मचर्य
५ अपरिग्रह

इनमें मुख्य स्थान अहिंसा का है। शेष सब उसी का विस्तार है। अहिंसा के दो रूप होते हैं

१ संकल्पकृत अहिंसा
२ सिद्ध अहिंसा

साधना के आरम्भ मे साधक अहिंसा का सकल्प स्वीकार करता है। इसमे मानसिक भूमिका सुपरिपक्व नही होती इसलिए बार-बार उतार-चढाव आता रहता है। हिंसा के सस्कार पुन-पुन उद्दीप्त होते रहते है। किन्तु अहिंसा का सकल्प तथा उसकी सिद्धि का लक्ष्य होने के कारण साधक उस स्थिति का अनुभव करता हुआ भी आगे की ओर बढता चला जाता है। वह निराश होकर न पीछे लौटता है और न रुकता है। आन्तरिक शुद्धि का अभ्यास करते-करते कषाय क्षीण होता है तब अहिंसा सिद्ध हो जाती है। उस स्थिति मे साधक के मन मे समता का पूर्ण विकास होता है। उसके मन मे फिर शत्रु और मित्र का भेद नही रहता। जीवन के प्रति अनुराग और मृत्यु का भय नही रहता। हीन और उत्कर्ष की भावना समाप्त हो जाती है। निन्दा से ग्लानि और प्रशसा से उत्फुल्लता नही होती। मान और अपमान से उसका मानसिक सतुलन नही बिगडता। उसमे सहज सयम विकसित होता है। और उसमे सब जीवो को आत्मतुल्य समझने की प्रज्ञा प्रकट हो जाती है।

अहिंसा के साथ-साथ व्यक्ति मे ऋजुता प्रकट होती है, यही उसका सत्य पक्ष है।

अहिंसा से अपनी मर्यादा का विवेक जागृत होता है, इसलिए अहिंसक व्यक्ति दूसरो के स्वत्व का अपहरण नही करता, यही उसका अचौर्य पक्ष है।

अहिंसक व्यक्ति अपने इन्द्रिय और मन पर अधिकार स्थापित करता है, यही उसका ब्रह्मचर्य पक्ष है।

अहिंसक व्यक्ति आत्मलीन रहता है। वह बाह्य वस्तुओ मे आसक्त नही होता, यही उसका अपरिग्रह पक्ष है।

अहिंसा, सत्य और अपरिग्रह का आध्यात्मिक मूल्य असीम होता है। ब्रह्मचर्य दो भागो मे विभक्त है .

१ सकल्पसिद्ध ब्रह्मचर्य

२ सिद्ध ब्रह्मचर्य

सिद्ध ब्रह्मचर्य की भूमिका तक पहुंचना हमारा लक्ष्य है। शास्त्रों मे 'घोरब्रह्मचारी' शब्द आता है। वह एक विशेष प्रकार की लब्धि (योगज शक्ति) है। वह दीर्घकालीन साधना से उपलब्ध होती है। राजवार्तिक के अनुसार जिसका वीर्य स्वप्न म भी स्खलित न हो वह घोर ब्रह्मचारी है। जिसका मन स्वप्न मे भी अणमात्र विचलित नही होता उसे घोर ब्रह्मचर्य की लब्धि प्राप्त होती है। शुभ सकल्पो और साधना के द्वारा इस भूमिका तक पहुचा जा सकता है। ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मथुन विरति या सर्वेन्द्रियोपरम। असत्य, चोरी आदि का सम्बन्ध मुख्यत मानसिक भूमिका से है। ब्रह्मचर्य दहिक और मानसिक दोनों भूमिकाओं से सम्बन्धित है अत उसकी पालना के लिए शरीर शास्त्रीय ज्ञान भी आवश्यक है। उसके अभाव मे ब्रह्मचर्य को समझने म भी कठिनाई होती है।

अब्रह्मचर्य के दो कारण हैं

१ मोह

२ शारीरिक परिस्थिति

व्यक्ति जो कुछ खाता है उसके शरीर मे प्रक्रिया चलती है। उसकी पहली परिणति रस है। वह शोणित आदि धातुओ में परिणत होता हुआ सातवी भूमिका म वीर्य बनता है। उसके बाद वह ओज के रूप मे शरीर म व्याप्त होता है। ओज केवल वीर्य का ही सार नही है। वह सब धातुओं का सार है। शरीर म अनेक नाडिया है। उनमे एक काम-वाहिनी नाडी है। उसका स्थान पर के अगूठ से लेकर मस्तिष्क के पिछले भाग तक है। काम-वासना को मिटाने के लिए जो आसन किए जाते है, उन आसनों से इसी नाड़ी पर नियन्त्रण किया जाता है। खाने से वीर्य बनता है। वह रक्त के साथ भी रहता है और वीर्याशय म भी जाता है। वीर्याशय मे अधिक वीर्य जाने से अधिक उत्तजना होती है और काम-वासना भी अधिक जागती है। ब्रह्मचारी क लिए यह एक कठिनाई है कि वह जीते-जी खाना नही छोड सकता। जो खाता है, उसका रस आदि भी बनता है, वीर्य भी

बनता है। वह अण्डकोश में जाकर सगृहीत भी होता है और वह वीर्याशय मे भी जाता है। योगियो ने इस समस्या पर विचार किया कि इस परिस्थिति को विवशता ही माना जाए या इस पर नियत्रण पाने का कोई उपाय ढूढा जाए ? उन्होंने स्पष्ट अनुभव किया—वीर्य केवल वीर्याशय मे जाएगा तो पीछे से चाप पड़ने से आगे का वीर्य बाहर निकलेगा, फिर दूसरा आएगा और वह भी खाली होगा। खाली होना और भरना यही क्रम रहेगा तो शरीर के अन्य तत्त्वो को पोषण नही मिलेगा। इसलिए उन्होंने वीर्य को मार्गान्तरित करने की पद्धति खोज निकाली। मार्गान्तरण के लिए ऊर्ध्वाकर्षण की साधना का विकास किया। उनका प्रयत्न रहा कि वीर्य वीर्याशय मे कम जाए और ऊपर सहस्रार चक्र मे अधिक जाए। इस प्रक्रिया मे वे सफल हुए। वीर्य को ऊर्ध्व मे ले जाने से वे ऊर्ध्वरेता बन गए।

वीर्याशय पर चाप पड़ने का एक कारण आहार है। ब्रह्मचर्य के लिए आहार का विवेक अत्यन्त आवश्यक है। अतिमात्र आहार और प्रणीत आहार दोनो वर्जनीय है। गरिष्ठ आहार नही पचता इसलिए वह कब्ज करता है। मलावरोध होने से कुवासना जागती है और वीर्य का क्षय होता है, इसलिए पेट भारी रहे उतना मत खाओ और प्रणीत आहार मत करो। सतुलित आहार करो, जिससे पेट साफ रहे। खाना जितना आवश्यक है, उससे कही अधिक आवश्यक है मलशुद्धि। मल के अवरोध से वायु बनता है। वायु जितना अधिक बनेगा उतना ही अहित होगा। वायु-विकार से अधिक बचो। वीर्य का जब अधिक चाप होता है तब ब्रह्मचर्य के प्रति सन्देह उत्पन्न हो जाता है।

उत्तराध्ययन मे कहा गया है—बभचेरे सका वा कखा वा वितिगिच्छा व समुप्पज्जिज्जा भेय वा लभेज्जा, उम्माय वा पाउणिज्जा, दीहकालिय वा रोगायक हवेज्जा, केवलिपण्णत्ताओ वा धम्माओ भसेज्जा।

शका, काक्षा और विचिकित्सा उत्पन्न होती है, भेद होता है, उन्माद होता है, दीर्घकालिक रोग और आतक भी हो जाता है तथा केवलि-प्रज्ञप्त धर्म से भ्रष्ट हो जाता है। ब्रह्मचर्य की साधना के लिए कुछ एक साधनो

की सूचना दी जाती है। उनका अभ्यास किया जाए तो वह निश्चित परिणाम लाएगा। इनमे पहला साधन वीर्य-स्तम्भ प्राणायाम है। इसका दूसरा नाम ऊर्ध्वाकर्षण प्राणायाम भी है। सिद्धासन मे बैठकर पूर्ण रूप से रेचन करें। रेचनकाल मे चिन्तन करें कि मेरा वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर मे व्याप्त हो रहा है। फिर पूरक करें जालन्धरबन्ध और मूलबन्ध करें। पूरक काल में पेट को सिकोडें और फुलाए। सिकोडने और फुलाने की क्रिया को पाच सात पूरकों मे सौ बार दोहराए।

दूसरा ध्यान है। तीसरा अल्पकालीन कुम्भक है। चौथा प्रतिसलीनता है।

इन्द्रिया चचल होती है पर वह उनकी स्वतत्र प्रवृत्ति नही है। मन से प्रेरित होकर ही वे चचल बनती हैं। मन जब स्थिर और शान्त होता है, तब वे अपने आप स्थिर और शान्त हो जाती है। मन अन्तर्मुखी बनता है तब इन्द्रिया अन्तर्मुखी हो जाती है। महर्षि पतजलि ने इसी आशय से लिखा है—

स्वविषयासम्प्रयोगे चित्तस्वरूपानुकार इवेन्द्रियाणा प्रत्याहार ।

—पातजल योगदर्शन—साधनपाद, ५४

अपने विषयों के असम्प्रयोग मे चित्त के स्वरूप का अनुकरण जैसा करना इन्द्रियों का प्रत्याहार कहलाता है। प्रत्याहार के स्थान पर जैन आगमों मे प्रतिसलीनता का उल्लेख है। औपपातिक सूत्र मे इन्द्रिय प्रतिसलीनता के पाच प्रकार बतलाए गए है।

इन्द्रिय प्रतिसलीनता के दो भाग हैं—विषय प्रचार का निरोध और राग-द्वेष का निग्रह। आखो से न देखना यह विषय प्रचार का निरोध है। विषय के साथ सम्बन्ध स्थापित हो जाए वहा राग द्वेष न करना राग द्वेष निग्रह है। प्रतिसलीनता का अर्थ है—अपने आप मे लीन होना। इन्द्रिया सहजतया बाहर दौडती हैं उन्हे अन्तर्मुखी बनाना प्रतिसलीनता है। उसकी प्रक्रिया यह है—

कोई आकार सामने आए तो उसकी उपेक्षा कर भीतर मे देखा

जाए, वैसे ही भीतर मे सुना जाए, सूंघा जाए, स्वाद लिया जाए और स्पर्श किया जाए। प्रतिसंलीनता के लिए कुम्भक की आवश्यकता होती है। उसकी प्रक्रिया इस प्रकार है—दाए नथुने से श्वास भरें। कुछ देर रोककर अन्त कुम्भक करे। फिर बाए नथुने से श्वास को बाहर निकाल दे। कुछ देर बाह्य कुम्भक करे। इस प्रकार एक बार कुम्भक होता है। प्रतिदिन बारह-तेरह बार इसका अभ्यास करना चाहिए।

वीर्य की उत्पत्ति समान वायु से होती है। उसका स्थान नाभि है। इसलिए कुम्भक के साथ नाभि पर ध्यान करे। पूरक करते समय सकल्प करे कि वीर्य नाडियो द्वारा मस्तिष्क मे आ रहा है। संकल्प मे ऐसी दृढता लाएं कि अपनी कल्पना के साथ वीर्य ऊपर चढता दिखाई देने लगे। चाप मे भी सहस्रार-चक्र पर ध्यान कर सकल्प करें कि नीचे खाली हो रहा है और ऊपर भर रहा है। वीर्य नीचे से ऊपर आ रहा है। ऐसा करने से वीर्य का चाप वीर्याशय पर नही पडेगा। फलत उसके चाप से होने वाली मानसिक उत्तेजना से सहज ही बचाव हो जाएगा। इस विषय मे यौन-शास्त्रियो के अभिमत भी मननीय है।

विज्ञानविशारद स्कॉट हाल का मत है—अण्ड और डिम्ब ग्रन्थियो के अन्त स्राव जब रक्त के साथ मिलकर शरीर के विभिन्न अगो मे प्रवाहित होते है तो वे युवक और युवती के सर्वांगीण विकास मे जादू की तरह नव-जीवन का प्रभाव छोडते है।

हैलेनाराइट ने इसके लिए बडा उपयोगी मार्ग बतलाया है—आत्म-विकास के लिए कोई एक कार्य अपना लेना चाहिए और एकाग्रचित्त से दिन मे कई बार यह सोचना चाहिए कि जननेन्द्रिय मे केन्द्रित प्राणशक्ति सारे स्नायुमण्डल मे प्रवाहित होकर अग-प्रत्यग को पुष्ट कर रही है। थोडे समय मे ही इस मानसिक सूचना से तन और मन नए चैतन्य से स्फूर्त एव प्रफुल्ल हो उठेंगे।

इन साधनो के अतिरिक्त शास्त्रो का अध्ययन, मनन, चिंतन, व्युत्सर्ग आदि साधन भी मन को एकाग्र करने मे सहायक होते है। ब्रह्मचर्य के

लिए केवल मानसिक चिंतन ही पर्याप्त नहीं है, दैहिक प्रश्नों पर भी ध्यान देना आवश्यक है। जीवन-सम्बन्धी विवेक और मल-शुद्धि का ज्ञान भी कम महत्त्व का नहीं है। यदि इसकी उपेक्षा की गई तो मानसिक चिंतन अकेला पड़ जाएगा।

मानसिक पवित्रता, प्रतिभा की सूक्ष्मता, धैर्य और मानसिक विकास की सिद्धि के लिए उक्त साधनों का अभ्यास आवश्यक है।

ब्रह्मचर्य का शरीरशास्त्रीय अध्ययन

शरीरशास्त्र के अनुसार शरीर में आठ ग्रन्थियां होती हैं

१ श्लैष्मिक या पीयूष (पिच्यूटरी)
२ कण्ठमणि (थाइरायड)
३ वृषण
४ सर्वकिण्वी (पनक्रिया)
५ एड्रीनल या सुप्रारीनल
६ पैराथाइरायड
७ तृतीय नेत्र (पीनियलबाडी)
८ यौवन लुप्त (थाइमस)

पीयूष ग्रन्थि

यह ग्रन्थि दिमाग के नीचे होती है। यह थाइरायड पैराथाइरायड, एड्रीनल पनक्रिया व वृषण कोषों के कार्यों को नियमित करती है। इस ग्रन्थि के रसों का काम इस प्रकार है

प्रथम रस का काम—शरीर-विकास।

द्वितीय रस का काम—शरीर के जल या नमक का सन्तुलन।

तृतीय रस का काम—गुर्दे के काम का नियमन।

पीयूष ग्रन्थि काम कम करे तो काम शक्ति नष्ट हो जाती है।

कण्ठमणि ग्रन्थि

यह गदन म श्वास नली स जुडी हुई होती है। इसका आकार तितली क समान होता है। इसका रसस्राव अधिक होने पर शरीर की

अधिक पोषण की जरूरत होती है। क्षुधा बढ जाती है किन्तु अन्य अग साथ नही देते इसलिए वह कभी पूरी नही होती। ऐसी स्थिति मे दुर्बलता आ जाती है। इस ग्रन्थि से रस कम निकले तो बुढापा आ जाता है। सर्दी अधिक लगती है, भूख कम हो जाती है, शिथिलता और उदासी रहती है।

वृषण ग्रन्थि

यह पुरुष के ही होती है। यह अण्डकोशो मे होती है, इसके रसस्राव से पौरुष जागता है और दाढी-मूछे आती हैं।

पैनक्रिया ग्रन्थि

यह दो आतो के बीच मे होती है।

एड्रीनल या सुप्रारीनल ग्रन्थि

ये दोनो ग्रन्थिया गुर्दे के ऊपरी हिस्से मे होती हैं। इनके स्राव शरीर के लिए बहुत आवश्यक होते हैं। इनसे साहस मिलता है। ये स्राव यकृत की चीनी को रक्त के द्वारा मासपेशियो मे ले जाते है। वह मासपेशियो को जूझने की शक्ति देती है।

पैराथाइरायड ग्रन्थि

कण्ठमणि के पास गेहू के दाने के बराबर चार ग्रन्थिया होती है। इन्हे पैराथाइरायड कहा जाता है। ये रक्त मे कैल्शियम, फासफोरस आदि का उचित सतुलन बनाए रखती है।

तृतीय नेत्र ग्रन्थि

यह मस्तिष्क मे होती है।

यौवनलुप्त ग्रन्थि

यह सीने मे होती है।

इनका कार्य अज्ञात है। प्रस्तुत विषय का सम्बन्ध वृषण ग्रथियो से है।

वृषण ग्रन्थिया दो स्राव उत्पन्न करती है—बहिःस्राव और अन्तःस्राव। धमनियो द्वारा वृषण-ग्रन्थियो मे रस-रक्त आता है। उसे प्राप्त कर दोनो स्रावो के उत्पादक अवयव अपने-अपने स्राव को उत्पन्न करते है।

वीर्य अण्डकोश मे उत्पन्न होता है। उसकी दो धाराए है—एक

वीर्याशय जो मूत्राशय और मलाशय के मध्य मे है—मे जाती है। दूसरी रक्त म मिलकर शरीर मे दीप्ति मस्तिष्क मे शक्ति उत्साह आदि पैदा करती है। वीर्याशय भरा रहे तो दूसरी धारा रक्त मे अधिक जाती है। यह स्थिति शारीरिक और मानसिक दोनो प्रकार के स्वास्थ्य के लिए बहुत लाभप्रद है। वीर्याशय खाली होता रहे तो वीर्य पहली धारा म इतना चला जाता है कि दूसरी को पर्याप्त रूप से मिल [illegible] नही पाता। फलत दोनो प्रकार के स्वास्थ्य को हानि पहुचती है। वीर्याशय खाली न हो, इसका ध्यान रखना स्वास्थ्य का प्रथम प्रश्न है।

जीवन के दस स्थान हैं

१ मूर्धा	६ बस्ति
२ कण्ठ	७ ओज
३ हृदय	८ शुक्र
४ नाभि	९ शोणित
५ गुदा	१० मास

ये दस स्थान दूसरे प्रकार से भी मिलते हैं

१ २ दो शख—पटपत्रिया

३-५ तीन मम—हृदय बस्ति और सिर

६ कण्ठ	७ रक्त
८ शुक्र	९ ओज

१० गुदा

ओज इन दोनों प्रकारो म है। वह वीय (धातु) का अन्तिम सार नही किन्तु सातो धातुओं (रस रक्त मास, मेद अस्थि मज्जा, शुक्र) का अतिम सार है। उसका केन्द्रस्थान हृदय [illegible] फिर भी वह व्यापी है।[1]

---

१ सुश्रुत ११।३७
ओजस्तु तजो धातूनां, शुक्रान्तानां परं स्मृतम्।
हृन्मस्थमपि व्यापि देहस्थितिनिबन्धनम्॥

इससे दो बातें निरापन्न होती है

१. ओज का सम्बन्ध केवल वीर्य से नही है।

२ वीर्य का स्थान अण्डकोश है, जबकि ओज का स्थान हृदय है।

ओज और वीर्य मे तीसरा अन्तर यह है कि वीर्य का मध्यम परिमाण ही लाभप्रद होता है। वह हीन मात्रा मे हो तो क्षीणता आदि दोष बढते है। वह अतिमात्रा मे हो तो उससे मैथुन की प्रबल इच्छा और शुक्राश्मरी (शुक्र-जनित पथरी) रोग उत्पन्न होता है।[1]

ओज जितना बढे उतना ही लाभप्रद है। उसकी वृद्धि से मन की तुष्टि, शरीर की पुष्टि और बल का उदय होता है।[2]

वीर्य-व्यय के दो मार्ग है.

१. जननेन्द्रिय

२ मस्तिष्क

भोगी तथा रोगी व्यक्ति के काम-वासना की उद्दीप्ति तथा वायुविकार आदि शारीरिक रोग होने पर वीर्य का व्यय जननेन्द्रिय से होता है।

योगी लोग वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर मोड देते हैं। अत उनके वीर्य का व्यय मस्तिष्क मे होता है। वीर्य का प्रवाह नीचे की ओर अधिक होने से काम-वासना बढती है और उसका प्रवाह ऊपर की ओर होने से काम-वासना घटती है।

काम-वासना के कारण जननेन्द्रिय द्वारा जो वीर्य व्यय होता है, वह अब्रह्मचर्य का ही एक प्रकार है। वह सीमित होता है तो उसका शरीर पर अधिक हानिकर प्रभाव नही होता। मन मे मोह और सस्कारो मे अशुद्धि उत्पन्न होती है, इसे आध्यात्मिक दृष्टि से हानि ही कहा जाएगा।

जो आदमी अब्रह्मचर्य मे अति आसक्त होता है, उसकी वृपणग्रन्थियो मे आने वाले रस-रक्त का उपयोग बहिःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव

---

१. सुश्रुत ११।१२ अतिस्त्रीकामता वृद्ध, शुक्र शुक्राश्मरीमपि।

२ सुश्रुत १२।४१ ओजं वृद्धौ हि देहस्य, तुष्टिपुष्टिबलोदयः।

कर लेते है। इसका फल यह होता है कि अन्तःस्राव उत्पन्न करने वाले अवयव उचित सामग्री के अभाव मे अपना काम करने मे अक्षम रह जाते हैं। फलत सब धातुओं और सर्वांग पर होने वाले अन्तःस्राव के महत्त्वपूर्ण प्रभावों से वह वचित रह जाता है और अनेक प्रकार के विकार उसके शरीर मे उत्पन्न होते है।

आयुर्वेद के ग्र थों में इस विषय को एक उदाहरण के द्वारा समझाया गया है। सात क्यारियों में सातवी क्यारी म बड़ा गढ़ा हो या उसमे से जल निकलने के लिए छेद हो तो सीधी-सी बात है कि पहले सम्पूर्ण जल उस गढ मे भरने लगेगा। या उस क्यारी को पूर्ण करने मे व्यय होगा। यही स्थिति अति मथुन आदि के कारण होने वाले शुक्र क्षय में होती है। निश्चित ही सम्पूर्ण रस प्रथम शुक्र धातु की पुष्टि मे लगता है किन्तु अति मैथुनवश शुक्र पुष्ट हो ही नही पाता। परिणामतया अन्य धातुओं की पुष्टि रस से हो नहीं पाती और शरीर मे विभिन्न विकार उत्पन्न हो जाते हैं।

ब्रह्मचर्य से इन्द्रिय विजय और इन्द्रिय विजय से ब्रह्मचर्य सिद्ध होता है। वस्तुत इन्द्रिय विजय और ब्रह्मचर्य दो नहीं हैं। ब्रह्मचर्य की इन्द्रिय विजय से एकात्मकता है, इसलिए उससे शरीर की स्थिरता, मन की स्थिरता और अनुद्विग्नता, अदम्य उत्साह, प्रबल सहिष्णुता, धर्य आदि अनेक गुण विकसित होते हैं।

ब्रह्मचर्य से हमारे स्थूल अवयव उतने प्रभावित नहीं होते जितने सूक्ष्म अवयव होते है।

कुछ लोगो का मत है कि पूर्ण ब्रह्मचर्य का शरीर और मन पर अनुकूल प्रभाव नही होता। इस मत म सचाई का अश भी है पर उसी स्थिति में जब ब्रह्मचर्य का पालन केवल विवशता की परिस्थिति में हो। चिन्तन के प्रवाह को काम वासना की लहरों से मोडकर अन्य उदात्त भावनाओ की ओर ले जाया जाए तो ब्रह्मचर्य स्ववशता की परिस्थिति म विकास पाता है। वह शरीर और मन की सूक्ष्मतम स्थितियों पर बड़ा लाभदायी प्रभाव डालता है।

बहुत सारे लोग ब्रह्मचर्य का पालन करना चाहते है, फिर भी नही कर पाते। ऐसा क्यो होता है ? अब्रह्मचर्य की भावना सहज ही क्यो उभर आती है ? इस प्रश्न का उत्तर कर्मशास्त्रीय भाषा मे यह है कि यह सब मोह के कारण होता है पर शरीरशास्त्र की भाषा मे कर्म का स्थान नही है। उसके अनुसार काम-वाहिनी नाडियो मे रक्त का सचरण होने से अब्रह्मचर्य की भावना उभरती है। उसका सचरण नही होता तो वह भावना नही उभरती। सचरण कम होने से वह भावना कम उभरती है और सचरण अधिक होने से वह भावना अधिक उभरती है। इस सन्दर्भ मे हम उस तथ्य की ओर सकेत कर सकते है कि ब्रह्मचारी के लिए गरिष्ठ या दर्पक आहार का निषेध क्यो किया गया ?

अब्रह्मचर्य एक आवेग है। हर आवेग पर मनुष्य अपनी नियत्रण-शक्ति से विजय पाता है। मन की नियत्रण-शक्ति का विकास ब्रह्मचर्य का प्रमुख उपाय है। पर यह प्रथम उपाय नही है। प्रथम है ब्रह्मचर्य के प्रति गाढ श्रद्धा होना। दूसरा है वीर्य या रक्त के प्रवाह को मोडने की साधना। इससे ब्रह्मचर्य जितना सहज हो सकता है, उतना नियत्रण-शक्ति से नही।

काम-वासना मस्तिष्क के पिछले भाग मे प्रारम्भ होती है, इसलिए जैसे ही वह उभरे, वैसे ही उस स्थान मे मन को एकाग्र कर कोई शुभ-सकल्प किया जाए, जिससे वह उभार शान्त हो जाए।

पेट मे मल, मूत्र और वायु का दबाव बढने से काम-वाहिनी नाडिया उत्तेजित होती है। खान-पान और मलशुद्धि मे सजग रहना ब्रह्मचर्य की बहुत बडी शर्त है। वायु-विकार न बढे, इस ओर ध्यान देना भी बहुत आवश्यक है।

काम-जनक अवयवो के स्पर्श से भी वासना बहुत अपेक्षित है। इन सारी बातो का ब्रह्मचर्य के परिपार्श्व मे बहुत महत्त्व है पर इन सबसे जिसका अधिक महत्त्व है, वह है वीर्य या रक्त-प्रवाह को मोडने की प्रक्रिया। उसकी कुछ विधिया इस प्रकार है -

ऊर्ध्वाकर्षण

(क) सिद्धासन में बैठिए। श्वास का रेचन कीजिए—बाहर निकालिए। बाह्य कुम्भक कीजिए—श्वास को बाहर रोके हुए रहिए। इस स्थिति में संकल्प कीजिए कि वीर्य रक्त के साथ मिलकर समूचे शरीर में घूम रहा है। वीर्य का प्रवाह ऊपर की ओर हो रहा है।

संकल्प इतनी तन्मयता से कीजिए कि वैसा प्रत्यक्ष अनुभव होने लगे। जितनी देर सुविधा से कर सकें, यह संकल्प कीजिए। फिर पूरक कीजिए—श्वास को अन्दर भरिए। पूरक की स्थिति में मूलबन्ध कीजिए—गुदा को ऊपर की ओर खींचिए तथा जालन्धर बन्ध कीजिए—ठुड्डी को तानकर कण्ठकूप में लगाइए। फिर पेट को सिकोड़िए और फुलाइए। आराम से जितनी बार ऐसा कर सकें कीजिए फिर रेचन कीजिए। यह एक क्रिया हुई। इसे अभ्यास बढ़ाते-बढ़ाते सात या नौ बार दोहराइए।

(ख) पीठ के बल चित्त लेट जाइए। सिर गर्दन और छाती को सीधा न रखिए। शरीर को बिलकुल शिथिल कीजिए। मुंह को बन्द कर पूरक कीजिए। पूरक करते समय यह संकल्प कीजिए कि काम शक्ति का प्रवाह जननेन्द्रिय से मुड़कर मस्तिष्क की ओर जा रहा है। मानसिक चक्षु से यह देखिए कि वीर्य रक्त के साथ ऊपर आ रहा है। काम-वाहिनी (जननेन्द्रिय के आसपास की) नाड़ियां हल्की हो रही हैं और मस्तिष्क की नाड़ियां भारी हो रही हैं।

पूरक के बाद अन्त:कुम्भक कीजिए—श्वास को सुखपूर्वक अन्दर रोके रहिए। फिर धीमे-धीमे रेचन कीजिए।

पूरक और रेचन का समय समान और कुम्भक का समय उससे आधा होना चाहिए। यह क्रिया बढ़ाते बढ़ाते पन्द्रह बीस बार तक करनी चाहिए। वीर्य के ऊर्ध्वारोहण का संकल्प जितना दृढ़ और स्पष्ट होगा, उतनी ही काम-वासना कम होती जाएगी।

कुक्कुटासन

इससे काम-वाहिनी स्नायुओं पर दबाव पड़ता है। इससे मन [illegible] शान्त और प्रशान्त होता है। काम-वासना क्षीण होती है।

मन की स्थिरता होने से वायु की स्थिरता होती है। वायु की स्थिरता से वीर्य की स्थिरता होती है। वीर्य की स्थिरता से शरीर को शक्ति प्राप्त होती है। कहा भी है

मनःस्थैर्यात् स्थिरो वायुस्ततो बिन्दुः स्थिरो भवेत्।
बिन्दुस्थैर्यात् सदा सत्त्वं, पिण्डस्थैर्यं च जायते ॥

ऊर्ध्वाकर्षण की प्रक्रिया केवल पुरुषों के लिए है। स्त्रियों [illegible] संकल्प-शुद्धि का अभ्यास सहायक हो सकता है।

२६. शयनकाले सत्सङ्कल्पकरणम् ॥

२७. ते च—ज्योतिर्मयोऽहं आनन्दमयोऽहं स्वस्थोऽहं निर्विकारोऽहं वीर्यवानहं—इत्यादयः ॥

२८. निद्रामोक्षे जपो ध्यानञ्च ॥

२९. परानिष्टचिन्तनेन मनोविघातः ॥

३०. आत्मौपम्यचिन्तया मनोविकासः ॥

२६. सोते समय पवित्र संकल्प करने चाहिए।

२७. मैं ज्योतिर्मय हूं, आनन्दमय हूं, स्वस्थ हूं, निर्विकार हूं, वीर्यवान हूं—आदि-आदि सत्संकल्प हैं। संकल्प करते समय मन स्थिर और पवित्र होना चाहिए।

२८. नींद टूटते ही जप और ध्यान करना चाहिए।

२९. दूसरों की अनिष्ट-चिन्ता करने से मन की शक्ति का हनन होता है।

३०. आत्मौपम्य (प्राणी मात्र को अपने समान मानकर) चिन्तन करने से मन का विकास होता है।

बाधा ॥

१५ यथाशक्ति चना परेषामपि ॥

१ प्रतिमा (कायोत्सर्ग की विशेष विधि) व जिनकल्प (साधना की उत्कृष्ट विधि) को स्वीकार करने वाले भिक्षु के लिए पांच भावनाएं होती हैं

१ तप
२ सत्त्व
३ सूत्र
४ एकत्व
५ बल

वह इन भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है। ये पांच तुलाएं हैं इनसे अपनी आत्मा को तोलता है। फिर प्रतिमा या जिनकल्प को स्वीकार करता है।

२ तप भावना से भूख पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।

३ वह परम यामी भूख को जीतते-जीतते ऐसा अभ्यास कर लेता है कि छह मास तक न खाने पर भी भूख से पीड़ित नहीं होता। उसका मन आर्त नहीं होता। शरीर में ग्लानि उत्पन्न नहीं होती।

४ सत्त्व भावना से भय और नींद पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।

५ प्रथम अभ्यास के लिए वह उपाश्रय उसके बाहरी भाग
श्मशान—इन पांच स्थानों में

सहयोग मिलता रहे और अन्य प्रकार के विचार भी न घुसने पाए।

(च) सकल्प को दोहराते समय लयबद्धता हो जानी चाहिए। दोहराने का स्वर जितना लम्बा होगा, उतनी ही स्थिरता बढेगी। जितना कम समय होगा उतनी ही स्थिरता कम होगी। भोजन के तत्काल बाद ऐसा नही करना चाहिए।

(छ) सकल्प मे सातत्य होना चाहिए। पाच दिन सकल्प किया, फिर दो दिन छोड दिया, फिर सात दिन किया, फिर छोड दिया—यह साधना का क्रम नही है। साधना का अभ्यास प्रतिदिन करना चाहिए।

(ज) सकल्प तालयुक्त श्वास के साथ करना चाहिए। जो सकल्प श्वास के साथ भीतर जाता है, वह तीन मिनट मे शरीर के प्रत्येक अवयव पर अपना प्रभाव छोड जाता है। पूरक के समय यह सकल्प करना चाहिए कि सकल्प्य वस्तु भीतर जा रही है। कुम्भक काल मे यह सकल्प होना चाहिए कि सकल्प्य वस्तु समूचे शरीर मे व्याप्त हो गई है। रेचनकाल मे मन को खाली रखना चाहिए।

सकल्प की पद्धति से जिस स्वभाव को बदलना चाहे, उसे बदलने मे हम सफल हो सकते है। नए स्वभाव का निर्माण कर सकते है। अभ्यास से व्यक्ति अपनी शक्ति बढा सकता है। अभ्यास न करने से जो शक्ति होती है, वह भी घट जाती है। आजकल लडकिया पढती है, कुछ वर्ष पहले नही पढती थी। क्या ज्ञानोपलब्धि की क्षमता पुरानी लडकियो मे नही थी? किन्तु उचित सामग्री के अभाव मे वह उपयोग मे नही आ रही थी, अब आ रही है। उचित सामग्री के अभाव मे विद्यमान शक्ति भी उसी तरह हो जाती है। सकल्प की साधना से जैसा चाहे, वैसा बन सकते है। मूल शक्ति व्यक्ति मे ही होती है। वह हीन भावना की परतो

के नीचे दबी रहती है। उसे पुरुषार्थ से जगाना अपेक्षित है। इसलिए साधना का महत्त्व है। नदियां अपने आप में बहती थीं पर बांध बनाने से उनका उपयोग और बढ़ गया। आज उन्हीं से लाखों एकड़ भूमि की सिंचाई की जाती है। हम उपयोग करना जानें तो हमारे मन में भी अनन्त शक्ति है।

सातवां प्रकरण

१. तपः-सत्त्व-सूत्र-एकत्व-बलभेदात् पंचधा भावना प्रतिमां जिनकल्पं वा प्रतिपद्यमानस्य ॥
२. तपसा क्षुधाजयः ॥
३. षण्मासं यावन्न बाधते क्षुधया ॥
४. सत्त्वभावनया भयं निद्रा च पराजयते ॥
५. उपाश्रय - तद्बहिः - चतुष्क - शून्यगृह - श्मशानेष्विति स्थानभेदात् पंचधा ॥
६. रात्रौ सुप्तेषु सर्वसाधुषु भय-निद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्ग-करणं प्रथमा ॥
७. क्वचिदुपाश्रयात् बहिस्तात् कायोत्सर्गकरणं द्वितीया ॥
८. चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेषु कायोत्सर्गकरणं परः ।
९. सूत्रभावनया कालज्ञानम् ॥
१०. सूत्रपरावर्तनानुसारेण उच्छ्वास-प्राणादयः सर्वे कालभेदा अवगताः स्युस्तथा सूत्रपरिचयः ॥
११. एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मानं भावयन् सर्वान् निरभिष्वङ्गः ।
१२. बलभावनया परीषहाणां जयः ॥
१३ बलं शरीरं मानसञ्च ॥
१४ तत्र मानसं तथा शारीरिकं यथा परीषहोपसर्गाश्च नाभ्यधि

बाधा ॥

१५. यथाशक्ति चता परेषामपि ॥

१ प्रतिमा (कायोत्सर्ग की विशेष विधि) व जिनकल्प (साधना की उत्कृष्ट विधि) को स्वीकार करने वाले भिक्षु के लिए पांच भावनाए होती है

१ तप
२ सत्त्व
३ सूत्र
४ एकत्व
५ बल

वह इन भावनाओं से अपनी आत्मा को भावित करता है। ये पाच तुलाए है इनसे अपनी आत्मा को तोलता है। फिर प्रतिमा या जिनकल्प को स्वीकार करता है।

२ तप भावना से भूख पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।

३ वह परम योगी भूख को जीतते-जीतते ऐसा अभ्यास कर लेता है कि छह मास तक न खाने पर भी भूख से पीड़ित नही होता। उसका मन आर्त्त नही होता। शरीर मे ग्लानि उत्पन्न नही होती।

४ सत्त्व भावना से भय और नींद पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है।

५ क्रमिक अभ्यास के लिए वह उपाश्रय उसके बाहरी भाग, चतुष्क शून्यगृह और श्मशान—इन पाच स्थानो मे कायोत्सर्ग करता है।

६ रात के समय सब साधुओ के सोने पर निद्रा और भय पर विजय पाने के लिए उठकर उपाश्रय मे कायोत्सर्ग करना—यह पहली सत्त्व भावना है।

७ पहला अभ्यास परिपक्व होने पर उपाश्रय से बाहर कही एकान्त मे कायोत्सर्ग करना दूसरी सत्त्व भावना है।

८ अभ्यास का परिपाक होते-होते चौराहे, सूने घर व श्मशान मे कायोत्सर्ग करना—क्रमश तीसरी, चौथी और पाचवी सत्त्व भावना है।

९. सूत्र भावना से समय का ज्ञान होता है।

१० सूत्र के परावर्तन (स्मरण) के अनुसार काल के सूक्ष्म भेदो का ज्ञान हो जाए, इस प्रकार सूत्रो को परिचित करने का अभ्यास किया जाता है। श्वास-प्रश्वास की मात्रा के साथ उनका उच्चारण होता है। एक मात्रा भी इतस्तत नही होती।

११ एकत्व भावना के द्वारा देह और उपकरणो से अपनी आत्मा को भिन्न रूप मे भावित कर निर्लेपता का अभ्यास किया जाता है।

१२ बलभावना से परीषहो (कष्टो) पर विजय प्राप्त की जाती है।

१३ बल दो प्रकार का होता है :

१ शारीरिक
२ मानसिक

१४ उनके द्वारा मनोबल इतना परिवर्धित किया जाता है, जिससे परीषहो व उपसर्गों के समुत्पन्न होने पर भी वह कभी विचलित नही होता।

१५ प्रतिमाधर व जिनकल्प मुनि इन भावनाओ से अपने-आपको पूर्णत. भावित करता है। किन्तु यथाशक्ति दूसरे भिक्षु या गृहस्थ भी अपने आपको भावित कर सकते हैं।

साधना की उच्च प्रक्रिया

भूख पराक्रमहीनता भयान आसक्ति और दुर्बलता—ये पांच साधना के बहुत बड़े विघ्न हैं। इन पर जितन अंश में विजय पायी जाती है उतने ही अंश मे साधना उद्दीप्त होती है। दीर्घकाल तक कायोत्सर्ग करने का इच्छुक साधक अथवा दीर्घकर तुल्य साधना करने का इच्छुक साधक उन विघ्नो पर विजय पाने का प्रयत्न करता है। साधना के प्रथम चरण मे भूख पर विजय पाने का अभ्यास किया जाता है। दूसरे चरण मे भय और निद्रा पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है। तीसरे चरण मे प्राण की सूक्ष्मता के साथ शास्त्रीय ज्ञान का अभ्यास किया जाता है। चतुर्थ चरण मे सब पदार्थों से भिन्नता की दृढ़ अनुभूति प्राप्त कर आसक्ति पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है। पांचवें चरण मे साधना मे आने वाले कष्टों पर विजय पाने का प्रयत्न किया जाता है।

कण्ठकूप में वायु को धारण करने से भूख और प्यास पर विजय प्राप्त होती है। यह पांचवें प्रकरण मे बतलाया गया है। यहां भूख विजय की भावनात्मक प्रक्रिया का उल्लेख है। खाए बिना रहने का बार-बार अभ्यास तथा आहार न करते हुए भी शक्ति और पुष्टि की सुदृढ़ भावना अनुभूति या संकल्प करने से शरीर मे कुछ रासायनिक परिवर्तन होते है और भूख की प्रखरता मन्द हो जाती है। इस तपोभावना से साधक छह मास तक खाए बिना रह जाता है।

भय और नींद पर विजय पाने के लिए पांच अभ्यासक्रम बतलाए गए है—रात्रि के समय उपाश्रय मे कायोत्सर्ग करना। उसके सध जाने पर उपाश्रय के आसपास बाहरी भाग मे कायोत्सर्ग करना। वहां अभय प्राप्त हो जाने पर चौराहे मे कायोत्सर्ग करना। फिर सूने घर मे और श्मशान मे। इस प्रकार क्रमिक अभ्यास से भय और नींद दोनों पर विजय प्राप्त हो जाती है।

प्राण मन और वाणी तीनों म सामरस्य या सामजस्य उत्पन्न करने पर चित्त की चचलता या विषमता क्षीण हो जाती है। सूत्र भावना के

द्वारा साधक इसी सामरस्य का अभ्यास करता है। उच्चारण और काल की मात्रा इतनी सध जानी चाहिए कि उच्चारण के द्वारा काल को और काल के द्वारा उच्चारण को मापा जा सके। कायोत्सर्ग या ध्यान मे काल का ज्ञान उच्चारण और श्वास के द्वारा ही किया जाता है। एक श्वास-प्रश्वास मे श्लोक के एक चरण का उच्चारण किया जाए तो एक मिनट मे बारह चरण उच्चारित होते हैं। इसका अर्थ हुआ एक मिनट मे बारह श्वास-प्रश्वास लिए जाते है। अभ्यास की परिपक्वता होने पर बारह चरणो के उच्चारण का अर्थ होता है—बारह श्वास-प्रश्वास और बारह श्वास-प्रश्वासो का अर्थ होता है—एक मिनट। इस प्रकार उच्चारण, श्वास-प्रश्वास और समय—तीनो की दूरी समाप्त होकर वे एकरूप हो जाते है। इस प्रक्रिया मे चिरकाल के बाद श्वास की गति मन्द हो जाती है। एक मिनट मे आने वाले सोलह-सत्रह श्वास घटकर पाच-सात रह जाते है। जिस प्रकार श्वास की गति मन्द होगी, उसी अनुपात से उच्चारण की सख्या भी कम हो जाएगी। इस साधना की अतिम परिणति प्राण-लब्धि के रूप मे बदल जाती है। प्राण-लब्धि-सम्पन्न साधक मानस चक्षु से असीम ज्ञान का साक्षात् कर लेता है।

आपत्ति द्वैत मे पैदा होती है। अद्वैत की भावना पुष्ट होने पर वह विलीन हो जाती है। उपनिषद् का स्वर है—वहा क्या मोह और क्या शोक होगा जो एकत्व को देखता है—

तत्र को मोह् क शोक एकत्वमनुपश्यत ।

एकत्व की भावना का दृढ अभ्यास करने पर शरीर, उपकरण आदि पर होने वाली आसक्ति क्षीण हो जाती है। सयोग हमारी व्यावहारिक सचाई है। हम उसका अतिक्रमण नही कर सकते किन्तु इस वास्तविकता को भी हम नही भुला सकते कि अन्तत आत्मा उन सबसे भिन्न है। इस-भेद-ज्ञान की अनुभूति को पुष्ट कर साधक देह मे रहते हुए भी देह के बन्ध से मुक्त हो जाता है।

बल की भावना से साधना की मात्रा मे आने वाले कष्टो को सहन

करने की शक्ति प्राप्त हो जाती है। इन पांच भावनाओं के आधार पर हम इस निष्कर्ष पर पहुंच सकते हैं कि साधक वही व्यक्ति हो सकता है जो तपस्वी है, पराक्रमी है, ज्ञानी है जिसे भेदज्ञान का दृढ अभ्यास है और जो बलवान है। ये भावनाएं कुछ लोगों में—जिनका शारीरिक संहनन सुदृढ़ और मनोबल विकसित होता है—अधिक जागृत होती है।

कुछ लोगों की धारणा है कि ये भावनाएं पुराने जमाने में ही हो सकती थीं आज नहीं हो सकतीं। किन्तु यह धारणा निराशा को जन्म देती है। आज भी शक्ति के अनुसार ये भावनाएं हो सकती हैं। यदि हम यह मानकर बैठ जाएं तो हमारे सामने कुछ करने का अवकाश ही नहीं रहता। यदि हम इनकी संभावना को स्वीकार करते हैं तो अवश्य ही कुछ न कुछ आगे बढ़ते हैं।

परिशिष्ट

परिशिष्ट—१

अभ्यासक्रम

: १ :

अभ्यास का परिपूर्ण क्रम

प्रथम भूमिका :

कायोत्सर्ग

प्रथम आरोह	सुप्त कायोत्सर्ग
द्वितीय आरोह	स्थित कायोत्सर्ग
तृतीय आरोह	उस्थित कायोत्सर्ग

कायोत्सर्ग की प्रक्रिया

१ पहले खिंचाव, फिर शिथिलीकरण।

२. सिर से पैर तक शिथिलता का संकल्प।

३ चिंतन और ममत्व का विसर्जन।

४ प्राण का दीर्घीकरण व सूक्ष्मीकरण।

कायोत्सर्ग में शारीरिक वृत्तियों के शिथिल होने पर भेदज्ञान का अनुभव—शरीर से आत्मा को पृथक् अनुभव करना चाहिए।

द्वितीय भूमिका :

जप

प्रथम आरोह	वाचिक जप	दीर्घोच्चारण
द्वितीय आरोह	उपांशु जप	सूक्ष्मोच्चारण
तृतीय आरोह	मानसिक जप	अनुच्चारण

तृतीय भूमिका

प्राणायाम

प्रथम आरोह—एक सप्ताह तक अनुलोम विलोम प्राणायाम।

द्वितीय आरोह—द्वितीय सप्ताह सकुम्भक अनुलोम विलोम प्राणायाम।

तृतीय आरोह—तृतीय सप्ताह मूलबन्ध सहित सकुम्भक अनुलोम विलोम प्राणायाम।

चतुर्थ आरोह—चतुर्थ सप्ताह उड्डीयान बन्ध सहित समूल बन्ध कुम्भक अनुलोम विलोम प्राणायाम।

पंचम आरोह—पंचम सप्ताह केवल कुम्भक।

चतुर्थ भूमिका

भावना

प्रथम आरोह—मैत्री भावना का चिंतन और अभ्यास।

द्वितीय आरोह—प्रमोद भावना का चिंतन और अभ्यास।

तृतीय आरोह—कारुण्य भावना का चिंतन और अभ्यास।

चतुर्थ आरोह—माध्यस्थ्य भावना का चिंतन और अभ्यास।

पंचम भूमिका

ध्यान

प्रथम आरोह—पिण्डस्थ ध्यान

द्वितीय आरोह—पदस्थ ध्यान

तृतीय आरोह—रूपस्थ ध्यान

चतुर्थ आरोह—रूपातीत ध्यान

इस समूचे क्रम को ८० मिनट में सम्पन्न किया जा सकता है। प्रारम्भ में एक-एक भूमिका का ही अभ्यास करना चाहिए। सब भूमिकाओं का स्थिर अभ्यास हो जाने पर सबका एक साथ प्रयोग किया जा सकता है।

: २ :

चित्तलय का सहज अभ्यास

यदि आप आसन, प्राणायाम आदि की साधना मे ध्यान देना नही चाहते है और लम्बी प्रक्रिया आपको जटिल प्रतीत होती है, आप सहज सरल ध्यान करने के पक्ष मे हैं तो वह भी सभव हो सकता है। जिस किसी भी आसन मे बैठकर ध्यान कर सकते है। केवल इतना ही ध्यान रखना होगा कि शरीर सीधा रहे तथा रीढ की हड्डी सीधी रहे। फिर आप ध्यान की पद्धति को चुन ले, जो नीचे बताई जा रही है :

१ नथुनो से श्वास भरकर उसे मस्तिष्क मे ले जाइए। वहा कुछ समय के लिए उसे धारण कीजिए। सहज ही सकल्प-विकल्प विलीन हो जाएगे। इससे धातु-क्षयजनित बीमारिया भी नष्ट होती है।

२ जीभ को तालू मे लगाकर बैठ जाइए। सहज ही मन शान्त हो जाएगा किन्तु इसका अभ्यास ठण्डे समय मे ही किया जाना चाहिए।

३. एकान्त मे शिथिलीकरणपूर्वक लेटकर अपने दाए पैर के अगूठे पर दृष्टि स्थिर कीजिए। मन को वही एकाग्र कीजिए। यह चित्तलय का सहज उपाय है।

४ स्थिर और सीधे बैठकर, लेटकर या खडे होकर मन को दोनो नथुनो के नीचे ले आइए। वहा श्वास जो भीतर जा रहा है और भीतर से वापस बाहर आ रहा है, उसे देखिए। श्वास के इस गम और निर्गम पर मन को लगाने से वह शान्त हो जाता है।

इनके अतिरिक्त चित्तलय की कुछ पद्धतिया ४।२५ की व्याख्या मे निर्दिष्ट हैं। उनमे से भी आप अपनी सुविधा के अनुसार चुनाव कर सकते हैं।

परिशिष्ट—२

मर्मस्थान और योग-विद्या के चक्र

आधुनिक शरीरशास्त्र के अनुसार मर्मस्थान और योग विद्या के चक्र ये हैं

१ सैक्रोकोक्सीजियल प्लक्सस (The Sacrococcygeal Plexus) मूलाधार चक्र।

२ सैक्रल प्लक्सस (The Sacral Plexus) स्वाधिष्ठान चक्र।

३ सोलर प्लक्सस (The Solar Plexus) मणिपूर चक्र (वाम भाग)

४ सरेब्रोस्पाइनल प्लक्सस (TheSerebro-Spinal Plexus) मणिपूर चक्र (दक्षिण भाग)।

ये दोनों क्रमशः इड़ा और पिंगला नामक नाड़ियों के संचालक हैं। इड़ा केन्द्रीय सुषुम्ना के बायीं ओर है तथा पिंगला दायीं ओर।

५ लम्बर प्लैक्सस (The Lumbar Plexus) अनाहत चक्र।

६ लरिन्जियल प्लक्सस (The Laryngeal Plexus) विशुद्धि चक्र।

७ सरेबलम प्लैक्सस (The Cerabellum Plexus) आज्ञा चक्र।

इसकी दो पखुड़ियां हैं।

८ हैलोरियम ([illegible]) मानस चक्र।

: ४ :

ॐकार के ध्यान का अभ्यास

स्थिर और शान्त होकर बैठ जाइए। फिर नासिका के अग्र भाग पर 'ॐ' का ध्यान कीजिए। चित्त को भृकुटि के मध्य में (आज्ञा चक्र पर) स्थापित कीजिए। यह ध्यान का सहज-सरल उपाय है। इससे आन्तरिक ज्ञान विकसित होता है, अन्तर्मन जागृत होता है।

परिशिष्ट—२

मर्मस्थान और योग-विद्या के चक्र

आधुनिक शरीरशास्त्र के अनुसार मर्मस्थान और योग विद्या के चक्र ये है

१ सैक्रोकोक्सीजियल प्लक्सस (The Sacrococcygeal Plexus) मूलाधार चक्र।

२ स क्रल प्लक्सस (The Sacral Plexus) स्वाधिष्ठान चक्र।

३ सोलर प्लेक्सस (The Solar Plexus) मणिपूर चक्र (वाम भाग)

४ सेरेब्रोस्पाइनल प्लक्सस (TheSerebro-Spinal Plexus) मणिपूर चक्र (दक्षिण भाग)।

ये दोनों क्रमश इडा और पिंगला नामक नाडियों के संचालक है। इडा केन्द्रीय सुषुम्ना के बायी ओर है तथा पिंगला दायी ओर।

५ लम्बर प्लेक्सस (The Lumbar Plexus) अनाहत चक्र।

६ लरिन्जियल प्लक्सस (The Laryngeal Plexus) विशुद्धि चक्र।

७ सैरेबलम प्लक्सस (The Cerabellum Plexus) आज्ञा चक्र।

इसकी दो पखुडिया है।

८ सशोरियम (Sensorium) मानस चक्र।

इसकी छह पखुडिया हैं।

९ मिडिल सैरेब्रम (Middle Cerebrum) : सोम चक्र।
१० अपर सैरेब्रम (Upper Cerebrum) : सहस्रार चक्र।
११. साधना की दृष्टि से तीन नाडियां मुख्य हैं :

१. इडा
२ पिंगला
३ सुषुम्ना

इनका मूल मूलाधार चक्र है। सुषुम्ना नाडी मेरुदण्ड के मध्य में है। वह मूलाधार से सहस्रार चक्र तक फैली हुई है। वह चैतन्य का शक्ति-केन्द्र है। उसके दोनों ओर इडा और पिंगला है। इडा बाएं अण्डकोश से और पिंगला दाएं अण्डकोश से प्रारम्भ होती है। स्वाधिष्ठान चक्र, मणिपूर चक्र, अनाहत चक्र और विशुद्धि चक्र में इनका संगम होता है। पिंगला विशुद्धि चक्र से ऊपर उठकर भ्रूमध्य को वेष्टित करती हुई दायीं नासिका तक चली जाती है। आज्ञाचक्र पर सुषुम्ना, इडा और पिंगला का संगम होता है।

वीर वंदन

विधि

१ दोनों पैरों को सटाकर, सीधा खड़ा होकर, पेट को अन्दर खींचकर और छाती को फुलाकर, दोनों हाथ जोड़कर प्रणाम की स्थिति में रहें।
२ दोनों हाथों को सिर से सटाकर ऊपर उठाएं और कुछ पीछे की ओर ले जाएं। सांस को अन्दर रोककर रखें।
३ दोनों हाथों को सिर के साथ छोड़ते हुए पैरों के बगल में हथेलियों को जमीन पर रखें। घुटने सीधे रखकर मस्तक को घुटनों से लगाएं।
४ बाएं पैर को पीछे सीधा करें, दाहिने पैर को मोड़ते हुए ऊपर की ओर देखें और सांस को रोककर रखें—कुंभक करें।

५ दाहिने पैर को भी पीछे की ओर लेकर नाभि की ओर देखें।

६ समूचे शरीर को पेट और छाती के बल जमीन पर रखें।

७ दोनों हाथों को जमीन पर हथेलियों के बल रखकर छाती को ऊपर उठाते हुए ऊपर की ओर देखें। श्वास को अन्दर रोककर रखें (भुजंगासन की मुद्रा)।

८ दोनों हाथों तथा पैरों को जमीन पर रखकर श्वास छोड़ते हुए नाभि को देखें (पांचवीं स्थिति की तरह)।

९ बाएं पैर को हाथ के निकट ले जाकर छाती को ऊपर उठाएं और ऊपर की ओर देखें (चौथी स्थिति की तरह)।

१० दोनों पैरों को दोनों हाथों के निकट ले जाकर उठकर खड़े होते हुए घुटनों से सिर लगाकर रखें।

११ दोनों हाथों को सिर के साथ ऊपर ले जाएं (दूसरी स्थिति की तरह)।

१२ प्रथम स्थिति की तरह प्रणाम करते हुए खड़े हो जाएं।

परिशिष्ट—३

शब्दकोश

सामान्य शब्द

अकषाय—प्रियता और अप्रियता की मनोवृत्ति का अभाव।

अगार—घर।

अतीन्द्रिय ज्ञान—इन्द्रिय और मन की सहायता के बिना होने वाला ज्ञान—प्रत्यक्ष ज्ञान।

अनर्ह—अयोग्य।

अनलस—पुरुषार्थी।

अनिन्द्रिय—मन।

अनिवेशन—अस्थापन।

अनृत—असत्य।

अन्तः कुम्भक—श्वास को अन्दर खींचकर रोकना।

अन्यत्व—भिन्नता।

अपनयन—दूर करना।

अपरिहार्य—जिसे टाला न जा सके।

अपान—श्वास छोड़ना।

अपानायाम—अपानवायु को शुद्ध करने की प्रक्रिया।

अप्रमत्त—आत्माभिमुख।

अप्रमाद—आत्माभिमुखता।
अप्रशस्त—खराब बुरा।
अयोग—मन, वचन और शरीर की प्रवृत्ति का निरोध।
अवग्रह—रहने का स्थान।
अविरति—पदार्थ के प्रति आकांक्षा।
अविसंवादित्व—कथनी और करनी की एकरूपता।
अशन—भोजन।
अशरण—असहाय।
अशौच—अपवित्र।
आकिंचन्य—निर्ममत्व।
आत्मा—जीव।
आत्मौपम्य—आत्मतुल्य।
आदान—उठाना, ग्रहण करना।
आनापान—श्वास प्रश्वास।
आर्जव—माया का निरोध।
आवरण—आच्छादन।
आशय—विचार।
आस्रव—कर्म-बंधन का हेतु।
आहरण—भोजन करना।
आहित—स्थापित।
इन्द्रिय—प्रतिनियत अर्थ को ग्रहण करने वाली।
उन्नयन—ऊपर ले जाना।
उपधि—वस्त्र-पात्र आदि उपकरण।
उपरोध—दूसरों के स्वत्व का हरण।
उपलब्धि—प्राप्ति।
उपवास—भोजन का त्याग करना।
उपशम—शान्ति।

उपसर्ग—उपद्रव ।
उपाश्रय—धर्मस्थान ।
ऊनोदरिका—खान-पान में कमी करना ।
ऊर्ध्वरेता—जिसका वीर्य ऊर्ध्वगामी हो ।
ऊर्ध्वस्थान—खड़े होकर किए जाने वाले आसन ।
एकत्व—एकाकीपन ।
एकाग्रसन्निवेशन—एक लक्ष्य में स्थापन ।
कषाय—प्रियता और अप्रियता की मनोवृत्ति ।
कायोत्सर्ग—शारीरिक प्रवृत्ति का विसर्जन ।
कारुण्य—दया ।
किट्ट—मलमूत्र ।
कुम्भक—श्वास का रेचन ।
क्षमा—क्रोध का निग्रह ।
क्षुत्—भूख ।
गण—संघ ।
गुप्ति—गोपन करना ।
घ्राण—गन्ध-ग्राहक इन्द्रिय ।
चक्षु—रूप-ग्राहक इन्द्रिय ।
चतुष्क—चौराहा ।
चन्द्रनाडी—बाया स्वर ।
चाप—दबाव ।
चेतनावान—चैतन्यधर्मा ।
जिनकल्प—साधना की एक विशेष पद्धति ।
जिह्वाग्र—जीभ का अग्रभाग ।
ज्ञान—विशेष या विश्लेषणात्मक बोध ।
तप—संचित कर्मों के शोधन का पराक्रम ।

तीर्थंकर—साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन चार तीर्थों के स्थापक।

त्याग—विसर्जन संविभाग।

त्रैकालिक—भूत भविष्य और वर्तमान—तीनों में होने वाला।

त्वक—त्वचा।

दर्शन—सामान्य बोध।

द्रव्य—पदार्थ।

दम—आत्मशुद्धि का साधन।

धारणा—ध्येय में चित्त को सन्निविष्ट करना।

ध्याता—ध्यान का अधिकारी।

नाद—ध्वनि।

नासाग्र—नासिका का अग्रभाग।

निक्षेप—रखना।

निरभिष्वंग—निर्लेप।

निरालम्बन—आलम्बन रहित।

निरुद्ध—आत्मपरिणत।

निरोध—रोकना।

निर्जरा—आत्मा की उज्ज्वलता।

निर्विचार—विचारातीत भावातीत या विकल्पातीत।

निवृत्ति—निवर्तन करना।

निषीदनस्थान—बैठकर किए जाने वाले आसन।

निस्संगत्व—निर्लेपता—अनासक्त भाव।

पङ्क—कीचड़।

पद—शब्द।

पदस्थ ध्यान—शब्द के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।

परावर्तन—स्मरण।

परीषह—कष्ट।

पर्याय—समानार्थक।
पार्थिव—पृथ्वी से सम्बन्धित।
पार्ष्णि—एड़ी।
पिण्ड—शरीर।
पिण्डस्थ ध्यान—शरीर के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
पूरक—श्वास को अन्दर खींचना।
पृष्ठान्त—पीठ का अन्त्य भाग।
प्रणीतरस—अतिमात्र, गरिष्ठ।
प्रतिमा—कायोत्सर्ग की विशेष विधि।
प्रतिलेखन—देखना।
प्रतिसंलीनता—अन्तर्मुखता।
प्रमाद—आत्मविमुखता, विस्मृति।
प्रमार्जन—साफ करना।
प्रमोद—दूसरो के गुणो के प्रति प्रसन्नता का भाव।
प्रशस्त—अच्छा।
प्राण—जीवनी शक्ति, श्वास।

जो श्वास-प्रश्वास लिया जाता है, वह स्थूल प्राण है और जिस शक्ति के द्वारा वह संचालित होता है, वह सूक्ष्म प्राण है।

प्राणायाम—श्वास का रेचन, पूरण और निरोध।
बन्ध—स्नायुओं का संकोचन।
बहि कुम्भक—श्वास का रेचन कर उसे बाहर रोकना।
बाह्य—आत्मा से अतिरिक्त।
बोधिदुर्लभता—सम्यग् ज्ञान, सम्यग् दर्शन और सम्यक् चारित्र की दुर्लभता।
ब्रह्मचर्य—जननेन्द्रिय, इन्द्रिय समूह और मन की शान्ति।
ब्रह्मरन्ध्र—सहस्रार चक्र।
भक्तपान—भोजन-पानी।

भव—संसार।
भस्म—राख।
भावना—विशिष्ट संस्कारों का आधान।
भेदज्ञान—आत्मा और शरीर की भिन्नता का बोध।
मध्यस्थता—उदासीनता निष्पक्षता।
मन—मननात्मक बोध।
मनोनुशासन—मन का शिक्षण, अनुशासन।
मार्दव—किसी का अनादर न करना।
मित—परिमित।
मिथ्यादृष्टि—स्वरूप के प्रति अनास्था।
मुमुक्षु—मुक्त होने की इच्छा रखने वाला।
मूढ—मोह से परिव्याप्त।
मैत्री—आत्मौपम्य।
मौन—वाणी का संवरण।
यातायात—कभी अन्तर्मुखी और कभी बहिर्मुखी होने वाला।
योग—समाधि प्रवृत्ति।
रसन—रस ग्राहक इन्द्रिय।
रूप—आकार, वर्ण।
रूपस्थ ध्यान—आकार के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
रूपातीत—निराकार।
रूपातीत ध्यान—निराकार के आलम्बन से होने वाली एकाग्रता।
रेचक—श्वास को बाहर निकालना।
लब्धि—योगज विभूति प्राप्ति।
लाघव—हल्कापन।
लिंग—चिह्न जननेन्द्रिय।
लेश्या—पुद्गल द्रव्यों के निमित्त से होने वाला आत्म परिणाम।
लोकसंस्थान—लोक का आकार।

वस्ति—जननेन्द्रिय ।
वाक्—वाणी ।
विकरण—विकृति ।
विकर्षण—दूर करना ।
विक्षिप्त—चञ्चल ।
विरति—पदार्थ की आकांक्षा का विसर्जन ।
विविक्तवास—एकान्तवास ।
वीतराग—राग-द्वेष विजेता ।
वीर्य—शक्ति ।
वैराग्य—विरक्ति ।
व्याधि—रोग ।
व्युत्सर्ग—शरीर, कषाय आदि का विसर्जन ।
शयनस्थान—लेटकर किए जाने वाले आसन ।
शिथिलीकरण—शरीर को ढीला छोड़ना ।
शुक्र—वीर्य ।
शौच—अलुब्धता ।
श्रोत्र—शब्द-ग्राहक इन्द्रिय ।
श्लिष्ट—स्थिर ।
संतति—प्रवाह ।
संधान—जुड़ना ।
संयम—हिंसा आदि अकरणीय कार्यों से विरत होना ।
संरोहण—मिलना ।
संवर—संवरण करना, कर्म-निरोध का हेतु ।
संस्थान—आकृति ।
सत्य—शरीर, वाणी और मन की ऋजुता ।
सत्यपरत्व—सत्य-परायणता ।
समिति—संयम के अनुकूल प्रवृत्ति ।

सम्यग्दृष्टि—सत्यस्पर्शी दृष्टि।
सर्वार्थग्राही—इन्द्रिय-ग्राह्य सभी विषयों का ग्रहण करने वाला।
सान्निध्य—सांनिध्य।
सात्त्विक—सत्त्वगुणयुक्त।
सापेक्ष—अपेक्षा रखने वाला।
सालम्बन—आलम्बन सहित।
सुलीन—सुस्थिर।
सूर्यनाडी—दाया स्वर।
स्कन्ध—समूह।
स्तेय—चोरी।
स्थान—आसन।
स्पर्शन—स्पर्श-ग्राहक इन्द्रिय।
स्वाध्याय—आत्मा के विषय मे चिंतन।
हिंसा—प्राण वियोजन, असत्प्रवृत्ति।

विशेष शब्द

अश्विनीमुद्रा—अश्व की भांति गुदा के संकोचन और विकोचन को अश्विनीमुद्रा कहा जाता है।

कपालभाति—यह रेचन प्रधान प्राणायाम है। इसकी क्रिया करते समय कण्ठ पर ध्यान केन्द्रित होता है और कण्ठदेश मे एक विशेष प्रकार की ध्वनि होती है। यह दस मिनट तक किया जा सकता है।

कुण्डलिनी—नाभि मूल के निकट स्वाधिष्ठान चक्र और मणिपूर चक्र के मध्य मे एक कुण्डलाकार सर्पिणी जैसी सूक्ष्म शक्ति है। उसे कुण्डलिनी कहा गया है। इसका ध्यान बादल के बीच कौंधती हुई विद्युत् रेखा के आकार मे भी किया जा सकता है। मूलबन्ध और उड्डीयान बन्ध के स्थिर अभ्यास

से यह जागृत होती है। कुछ ग्रन्थो मे इसे कमलतन्तु के समान सूक्ष्म रूपवाली प्राणशक्ति कहा गया है। जैन साहित्य मे तेजोलब्धि का जो वर्णन है, वह कुण्डलिनी के वर्णन जैसा ही प्रतीत होता है।

भस्त्रिका — दोनो नथुनो से धोंकनी की भाति शब्द करते हुए श्वास लेना और छोडना भस्त्रिका प्राणायाम है। यह प्राणायाम लम्बे समय तक किया जा सकता है।

समवृत्ति प्राणायाम— एक नथुने से श्वास लेना और दूसरे नथुने से उसे छोडना समवृत्ति प्राणायाम है।

सर्वेन्द्रियसयममुद्रा—दोनो अगूठे कानो मे स्थापित है। दोनो तर्जनिया मूदी हुई आखो को धीमे से दबाए हुए है और उनके अग्रभाग आख और नाक के मध्यवर्ती देश पर कुछ अधिक दबाव डाले हुए है। दोनों मध्यमाए दोनों नथुनो को बन्द किए हुए है। दोनो अनामिकाए ऊपर के होठ पर तथा दोनो कनिष्ठाए नीचे के होठ पर टिकी हुई है। बस यही है सर्वेन्द्रिय सयम मुद्रा।

परिशिष्ट—४

मनोनुशासनम्-सूत्र

पहला प्रकरण

१ अथ मनोनुशासनम् ॥
२ इन्द्रियसापेक्षं सर्वार्थग्राहि त्रैकालिकं संज्ञानं मनः ॥
३ स्पर्शन-रसन-घ्राण-चक्षुः-श्रोत्राणि इन्द्रियाणि ॥
४ आत्ममात्रापेक्षम् अतीन्द्रियम् ॥
५ चेतनावद् द्रव्यम् आत्मा ॥
६ ज्ञानदर्शन-सहजानन्द-सत्य-वीर्याणि तत्स्वरूपम् ॥
७ परमाणुसमुदयस्याकारणविकल्पे ॥
८ तत्संसर्गासंसर्गाभ्यां आत्मा द्विविधः ॥
९ बद्धो मुक्तश्च ॥
१० स्वरूपोपलब्धिर्मुक्तिः ॥
११ मनो-वाक्-काय-आनापान-इन्द्रिय-आहाराणां निरोधो योगः ॥
१२ संवरो गुप्तिर्निरोधो निवृत्तिः इति पर्यायाः ॥
१३ शोधनं च ॥
१४ समितिः सत्प्रवृत्तिर्विशुद्धिः इति पर्यायाः ॥
१५ पूर्वं शोधनं ततो निरोधः ॥
१६ हित-मित-सात्त्विकाहरणम् आहारशुद्धिः ॥
१७ स्वविषयान् प्रति सम्यग्योगः इन्द्रियशुद्धिः ॥
१८ प्रतिसंलीनता च ॥
१९ प्राणायाम-समदीर्घश्वास-कायोत्सर्गाः आनापानशुद्धिः ॥

२० कायोत्सर्गासन-बन्ध-व्यायाम-प्राणायामै कायशुद्धि ।।
२१ निस्संगत्वेन च ।।
२२ प्रलम्बनादाभ्यासेन वाक्शुद्धि ।।
२३ सत्यपरत्वेन च ।।
२४ दृढसकल्पैकाग्रसन्निवेशनाभ्या मन शुद्धि ।।
२५ मिथ्यादृष्टिरविरति प्रमाद कषायो योगश्च परमाणुस्कन्धा-कर्षणहेतव ।।
२६ सम्यग्दृष्टिर्विरतिरप्रमादोऽकषायोऽयोगश्च तद्विकर्षणहेतव ।।
२७ इन्द्रियानिन्द्रियातीन्द्रियाणि आत्मनो लिंगम् ।।

दूसरा प्रकरण

१ मूढ-विक्षिप्त - यातायात - श्लिष्ट - सुलीन - निरुद्धभेदाद् मन' षोढा ।।
२ दृष्टिचरित्रमोह-परिव्याप्त मूढम् ।।
३ अनर्हमेतद् योगाय ।।
४ इतस्ततो विचरणशील विक्षिप्तम् ।।
५. कदाचिदन्त कदाचिद् बहिर्विहारि यातायातम् ।।
६ प्रारम्भिकाभ्यासकारिणे द्वयमिदम् ।।
७ विकल्पपूर्वक वाह्यवस्तुनो ग्रहणाद् अल्पस्थैर्यं अल्पानन्दश्च ।।
८ स्थिर श्लिष्टम् ।।
९ सुस्थिर सुलीनम् ।।
१० द्वयमिद सजाताभ्यासस्य योगिन ।।
११ वाह्यवाम्नुन अग्रहणाद् दृढस्थैर्यं महानन्दश्च ।।
१२ मनोगतव्येयमेवास्य विषय ।।
१३ निरालम्बन केवलमात्मपरिणत निरुद्धम् ।।
१४ इद वीतरागस्य ।।
१५ सहजानन्दप्रादुर्भाव ।।

१६ ज्ञान-वैराग्याभ्यां तन्निरोधः ॥
१७ श्रद्धाप्रकर्षेण ॥
१८ शिथिलीकरणेन ॥
१९ संकल्पनिरोधेन ॥
२० ध्यानेन च ॥
२१ गुरूपदेश प्रयत्नबाहुल्याभ्यां तदुपलब्धिः ॥

तीसरा प्रकरण

१ एकाग्रे मनः सन्निवेशनं योगनिरोधो वा ध्यानम् ॥
२ ऊनोदरिका रसपरित्यागोपवास-स्थान-मौन-प्रतिसंलीनता
स्वाध्याय भावना-व्युत्सर्गास्तत् सामग्र्यम् ॥
३ अल्पाहारः ऊनोदरिका ॥
४ दुग्धादिरसानां परिहरणं रसपरित्यागः ॥
५ अशनत्याग उपवासः ॥
६ शरीरस्य स्थिरतापादनं स्थानम् ॥
७ ऊर्ध्व निषीदन शयनभेदात् त्रिधा ॥
८ समपाद एकपाद-गृध्रोड्डीन-कायोत्सर्गादीनि ऊर्ध्वस्थानम् ॥
९ गोदोहिका-उत्कटुक-समपादपुता-गोनिषद्यिका-हस्तिशुण्डिका-पद्म
वीर-सुख कुक्कुट सिद्ध भद्र-वज्र मत्स्येन्द्र-पश्चिमोत्तान-महामुद्रा-
सम्प्रसारणभूनमन-कन्दपीडनादीनि निषीदनस्थानम् ॥
१० दण्डायत-आम्रकुब्जिका-उत्तान-अवमस्तक-एकपार्श्व ऊर्ध्वशयन-
लकुट-मत्स्य-पवनमुक्त भुजङ्ग-धनुरादीनि शयनस्थानम् ॥
११ सर्वाङ्ग-शीर्षादीनि विपरीतक्रियापादकानि ॥
१२ वाचः संवरणं मौनम् ॥
१३ इन्द्रिय-कषायनिग्रहो विविक्तवासश्च प्रतिसंलीनता ॥
१४ इन्द्रियाणां विषय-प्रचारनिरोधो विषयप्राप्तेषु अर्थेषु राग-द्वेष-
निग्रहश्च इन्द्रिय प्रतिसंलीनता ॥

ध्यान-स्थलानि ॥

८ भूपीठ शिलाकाष्ठपट्टान्युपवेशनस्थानानि ॥

९ सालम्बन निरालम्बनभेदाद् ध्यान द्विधा ॥

१० पिण्डस्थ-पदस्थ रूपस्थ रूपातीतभेदादाद्य चतुर्धा ॥

११ शरीरालम्बि पिण्डस्थम् ॥

१२ शिरो भ्रू-तालु -ललाट-मुख -नयन-श्रवण-नासाग्र -हृदय-नाभ्यादीनि शरीरालम्बनानि ॥

१३ धारणालम्बन च ॥

१४ ध्येये चित्तस्य स्थिरबन्धो धारणा ॥

१५ पार्थिवी-आग्नेयी-मारुती-वारुणीति चतुर्धा ॥

१६ स्वाधारभूताना स्थानाना बृहदाकारस्य वैशद्यस्य च विमर्श ॥

१७ तत्रस्थस्य सिंहासन सर्वसामर्थ्योद्भावन पार्थिवी ॥

१८ नाभिकमलस्य प्रज्वलनेन अशेषदोषदाहचिन्तनमाग्नेयी ॥

१९ दग्धमलापनयनाय चिन्तन मारुती ॥

२० महामेघेन तद्भस्मप्रक्षालनाय चिन्तन वारुणी ॥

२१ श्रुतालम्बि पदस्थम् ॥

२२ सरूपालम्बि रूपस्थम ॥

२३ सर्वमलापगतज्योतिर्मयात्मालम्बि रूपातीतम् ॥

२४ तन्मयत्वमेवास्य स्वाध्यायाद् वैलक्षण्यम् ॥

२५ निर्विचार निरालम्बनम् ॥

२६ कृष्णादिद्रव्यसाचिव्यादात्मपरिणामो लेश्या ॥

२७ कृष्ण-नील-कापोत-तेज -पद्म शुक्ला ॥

पांचवां प्रकरण

१ प्राणापान-समानोदान-व्याना पञ्च वायव ॥

२ नासाग्र हृदय-नाभि पादाङ्गुष्ठान्तगोचरो नीलवर्ण प्राण ॥

३ पृष्ठ-पृष्ठान्त-पार्ष्णिग श्यामवर्ण अपान ॥

छठा प्रकरण

१ सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम् ॥

२ सर्वभूतेषु संयमः अहिंसा ॥

३ कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादित्वञ्च सत्यम् ॥

४ परोपरोधाकरणमस्तेयम् ॥

५ सर्वेन्द्रियमनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम् ॥

६ बाह्ये मनसोऽनिवेशनमपरिग्रहः ॥

७ आलोके भोजनं पानञ्च ॥

८ भूमिं प्रतिवीक्षमाणो गच्छेत् ॥

९ प्रतिलेखनप्रमार्जनपूर्वकमुपकरणानामादाननिक्षेपं कुर्यात् ॥

१० क्रोध-लोभ-भय-हास्यानि वर्जयेद् अनुविचिन्त्य भाषेत ॥

११ अवग्रहानुज्ञां परिपालयेत् ॥

१२ ब्रह्मचर्यघातिसंसर्गं प्रयत्नेन विवर्जयेत् ॥

१३ प्रियाप्रियेषु न रज्येद् न द्विष्याद् न च वेश्मन्यासीत ॥

१४ स्थूलहिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरणुव्रतम् ॥

१५ क्षमा-मार्दव-आर्जव-शौच-सत्य-संयम-तपस्त्याग-आकिंचन्य-ब्रह्म-
चर्याणि श्रमणधर्मः ॥

१६ क्रोधनिग्रहः क्षमा ॥

१७ हीनाभिमानपरिमर्दनं मार्दवम् ॥

१८ मायानिरोध आर्जवम् ॥

१९ शौचमलुब्धता ॥

२० सत्यम् ॥

२१ हिंसादिप्रवृत्तेरुपरमणं संयमः ॥

२२ कर्मनिर्जरणहेतुः पौरुषं तपः ॥

२३ संविभागकरणं त्यागः ॥

२४ स्वदेहे निर्ममता आकिंचन्यम् ॥

२५ [illegible]नम् ॥

२६. भवनका[illegible] ॥

२७ ते च—ज्ञानविषयोऽ[illegible] [illegible] [illegible]

शीर्ष[illegible]—[illegible] ॥

२८. निद्रामोक्षे अपि [illegible] ॥

२९ परानिष्टचिन्तनेन मनोविघात ॥

३० आत्मौपम्यचिन्तया मनोविकास ॥

सातवा प्रकरण

१ तप-सत्त्व-सूत्र-एकत्व-बलभेदात् पचधा भावना प्रतिमा जिनकल्प वा प्रतिपद्यमानस्य ॥

२ तपसा क्षुधाजय ॥

३ षण्मास यावन्न बाधते क्षुधया ॥

४ सत्त्वभावनया भय निद्राञ्च पराजयते ॥

५. उपाश्रय - तद्बहि - चतुष्क - शून्यगृह - श्मशानेष्विति स्थान-भेदात् पचधा ॥

६ रात्री सुप्तेषु सर्वसाधुषु भय-निद्राजयार्थमुपाश्रय एव कायोत्सर्ग-करण प्रथमा ॥

७ क्वचिदुपाश्रयाद् बहिस्तात् कायोत्सर्गकरण द्वितीया ॥

८ चतुष्क-शून्यगृह-श्मशानेषु कायोत्सर्गकरण परा ॥

९. सूत्रभावनया कालज्ञानम् ॥

१०. सूत्रपरावर्तनानुसारेण उच्छ्वास-प्राणादय सर्वे कालभेदा ग्रथगता. स्युस्तथा सूत्रपरिचय ॥

११. एकत्वभावनया देहोपकरणादिभ्यो भिन्नमात्मान भावयन् भवति निरभिष्वङ्ग ॥

१२ बलभावनया परीषहाणा जय ॥

छठा प्रकरण

१ सर्वथा हिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहेभ्यो विरतिर्महाव्रतम् ॥
२ सर्वभूतेषु संयम अहिंसा ॥
३ कायवाङ्मनसामृजुत्वमविसंवादित्वञ्च सत्यम् ॥
४ परोपरोधाकरणमस्तेयम ॥
५ बस्तीन्द्रियमनसामुपशमो ब्रह्मचर्यम् ॥
६ बाह्ये मनसोऽनिवेशनमपरिग्रह ॥
७ आलोके भोजन पानञ्च ॥
८ भूमिं प्रतिवीक्षमाणो गच्छेत ॥
९ प्रतिलेखन प्रमार्जनपूर्वकमुपकरणानामादाननिक्षेपं कुर्यात् ॥
१० क्रोध-लोभ भय हास्यानि वर्जयेत अनुविचिन्त्य भाषेत ॥
११ अवग्रहानुज्ञां परिपालयेत् ॥
१२ ब्रह्मचर्यघातिसंसर्गेन्द्रियप्रयोगं विवर्जयेत ॥
१३ प्रियाप्रिययोगे न रज्येद् न द्विष्याद न च देहमध्यासीत ॥
१४ स्थूलहिंसाऽनृतस्तेयाऽब्रह्मपरिग्रहविरतिरणुव्रतम् ॥
१५ क्षमा-मार्दव-आर्जव शौच-सत्य-संयम-तपस्त्याग -आकिंचन्य-ब्रह्मचर्याणि श्रमणधर्म ॥
१६ क्रोध निग्रह क्षमा ॥
१७ हीनानामपरिभवनं मार्दवम् ॥
१८ माया निरोध आर्जवम ॥
१९ शौचमलुब्धता ॥
२० सत्यम् ॥
२१ हिंसादिप्रवृत्त्युपरमण संयम ॥
२२ कर्म निर्जरणहेतु पौरुष तप ॥
२३ संविभागकरण त्याग ॥
२४ स्वदेहे नि र्ममता आकिंचन्यम् ॥

१३ बलं शारीरं मानसञ्च ॥

१४ तत्र मानसं तथा परिवर्धितं यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्येत बाधा ॥

१५ यथाशक्ति च्वता परेषामपि ॥

• • •

१३ बल शारीर मानसञ्च ॥

१४ तत्र मानस तथा परिवर्धित यथा परीषहैरुपसर्गैश्च नोत्पद्येत बाधा ॥

१५ यथाशक्ति चर्या परेषामपि ॥

• • •







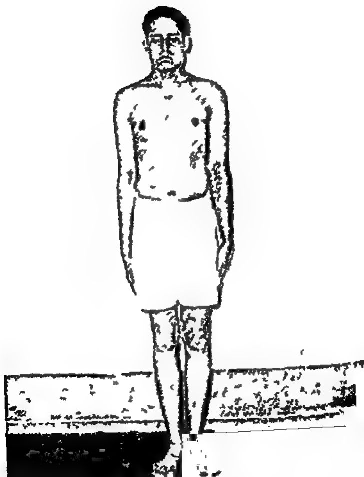
२ एकपाद



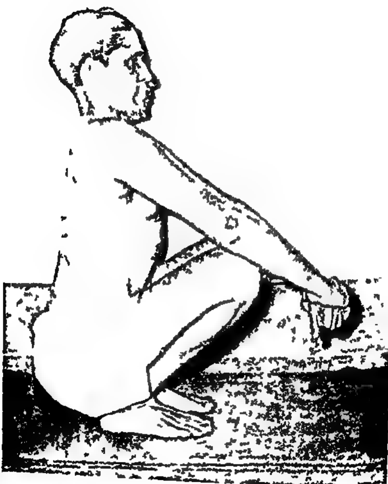
४ कायोत्सर्ग (बैठी मुद्रा मे—पहला प्रकार)



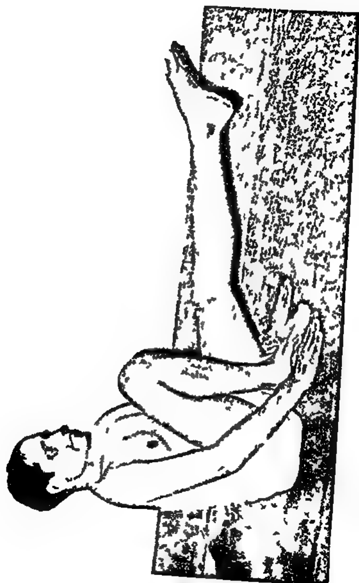
६ कायोत्सर्ग (खडी मुद्रा में)



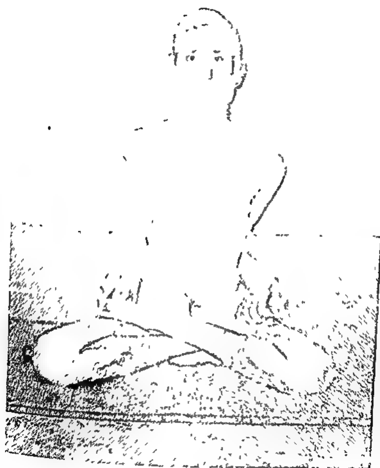
६ कायोत्सर्ग (खड़ी मुद्रा में)



८ उत्कटासन







१३ बद्धपद्मासन







१८ योगमुद्रा (पहला प्रकार)

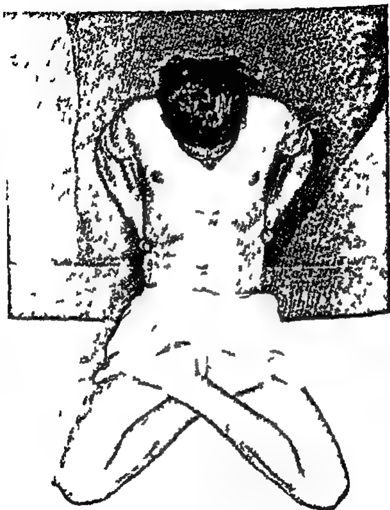




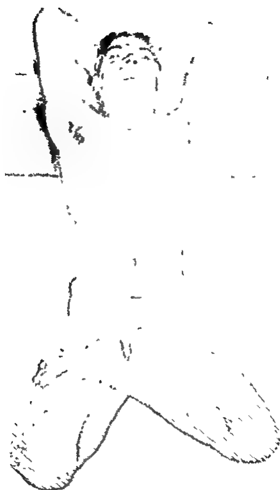
१६ उड्डीयान पद्मासन



१७ अर्धपद्मासन



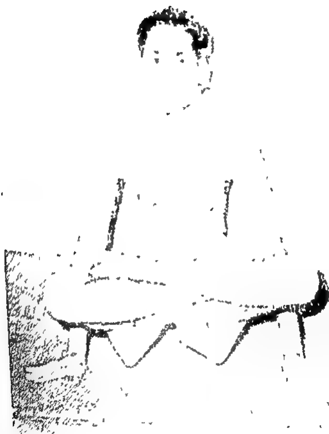
१८ ऊर्ध्वपद्मासन (पहला प्रकार)



१९ ऊर्ध्वपद्मासन (दूसरा प्रकार)



• उत्थित पद्मासन (पहला प्रकार)



२१ उत्थितपद्मासन (दूसरा प्रकार)



१२ मुगासन (पहला प्रकार)



२३ सुखासन (दूसरा प्रकार)



१८ सुखासन (तीसरा प्रकार)



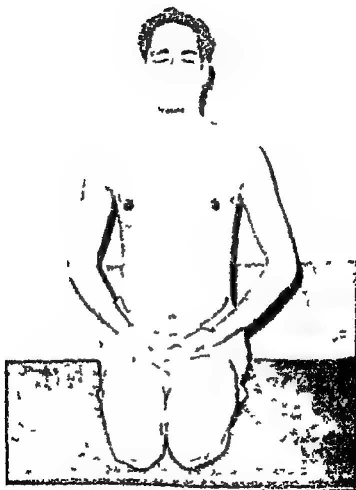
२५ कुक्कुटासन (पहला प्रकार)



२६ कुक्कुटासन (दूसरा प्रकार)



२७ भद्रासन



२८ वज्रासन (पहला प्रकार)



२९ वज्रासन (दूसरा प्रकार)



३० मत्स्येन्द्रासन



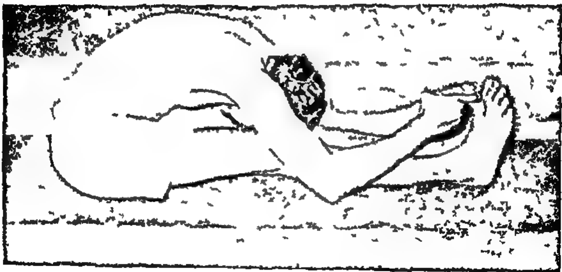
३१ अर्धमत्स्येन्द्रासन (पहला प्रकार)



२ अर्धमत्स्येन्द्रासन (दूसरा प्रकार)



३३ . पश्चिमोत्तानासन (पहला प्रकार)



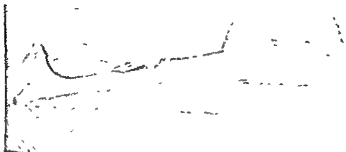
२४ पश्चिमोत्तानासन (दूसरा प्रकार)



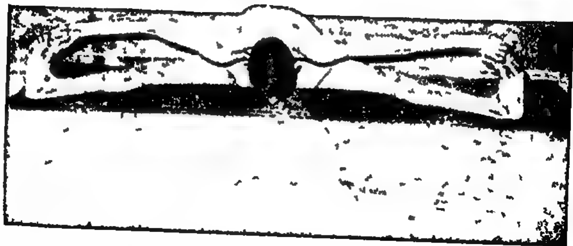
३५ महामुद्रा (पहला प्रकार)



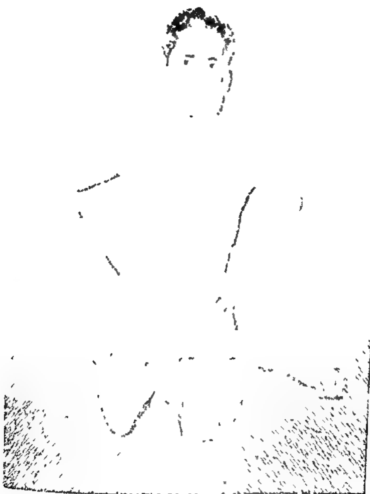




३७ सप्रसारण भूनमनासन (पहला प्रकार)



३८ समभारण भूनमनासन (दूसरा प्रकार)



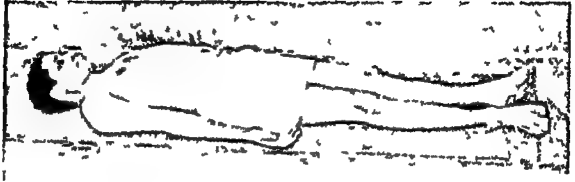
३६ कन्दपीडनासन



४० पार्श्वकुम्भिनासन

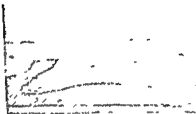


४१ . उत्तानशयन—गुप्तांगाकुंचन (पहला प्रकार)



४२ उत्तानशयन—सुप्तपादोत्तान (दूसरा प्रकार)



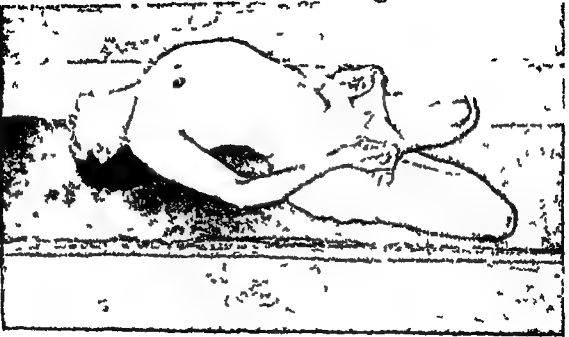




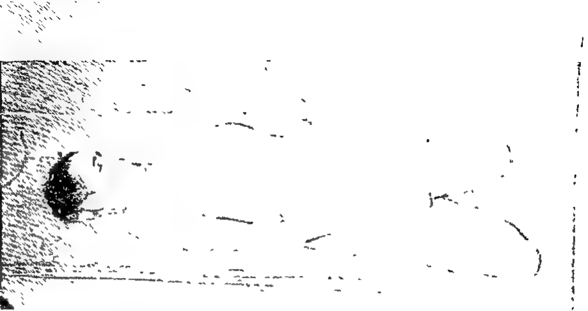




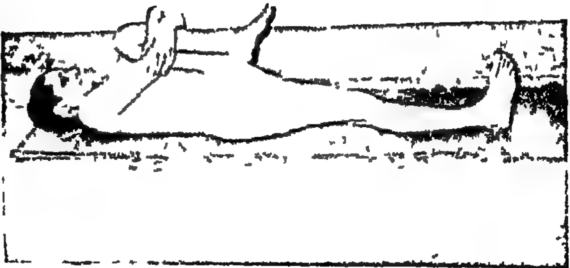
४६ मकुटासन (पहला प्रकार)



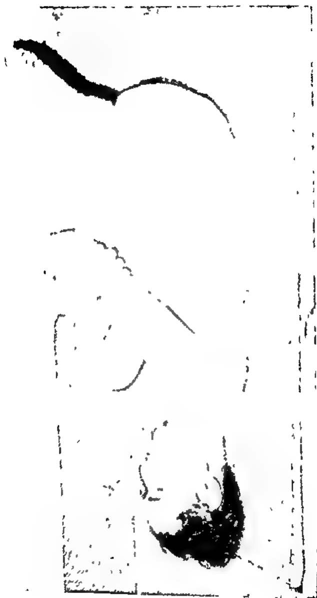
४८ मत्स्यासन



४६ मत्स्यानन ([illegible])

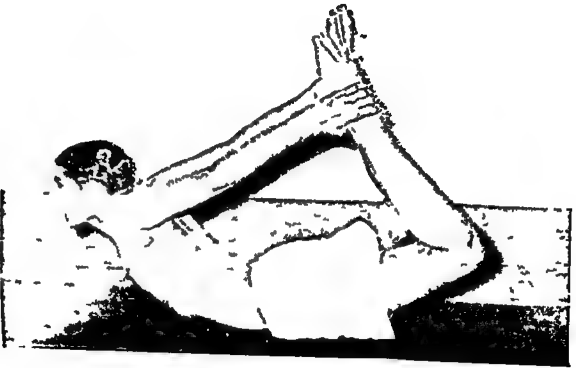


५० पवनमुक्तासन (पहला प्रकार)





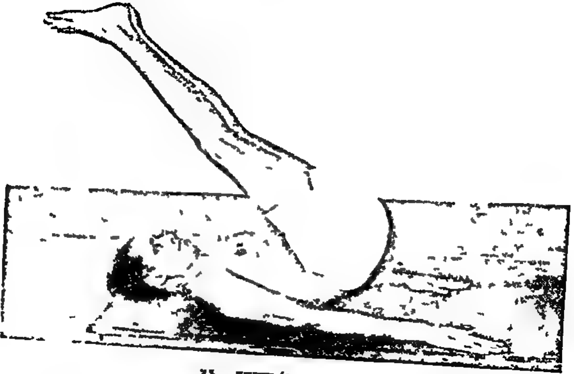
६२ भुजंगासन (पहला प्रकार)



५८ धनुरासन

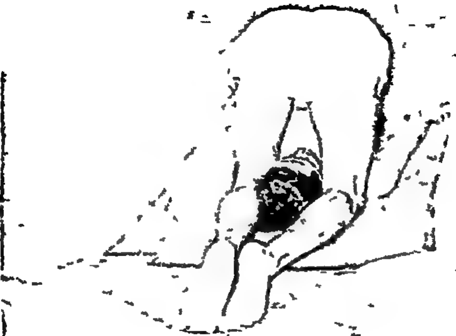


५५ · सर्वांगासन



२६ हलासन (पहला प्रकार)

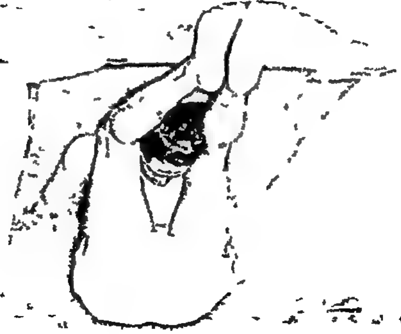




२८ कर्णपीडनासन

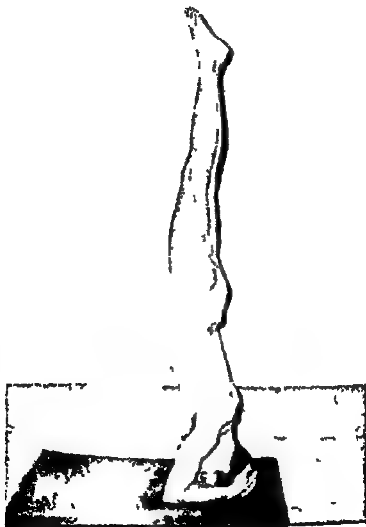




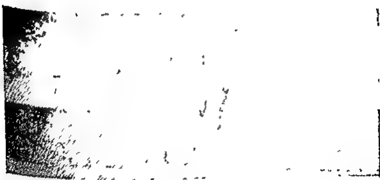




६१ वीरवदन (पहला प्रकार)



१० शीर्षासन (दूसरा प्रकार)



६१ वीरवदन (पहला प्रकार)



६२ धारासन (दूसरा प्रकार)



६३ वीरखदन (तीसरा प्रकार)



१२ भारवन्त (दूसरा प्रकार)

६५ वीरवदन (पाचवा प्रकार)

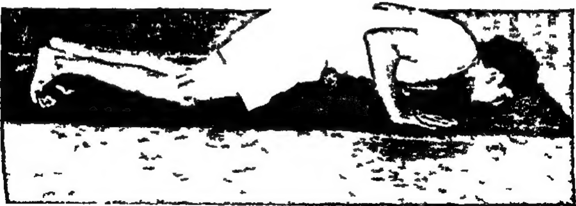
६७ वीरवदन (सातवा प्रकार)











८८ शवासन (अन्य प्रकार)



৫৫ মকরাসন (৩য় প্রকার)